<u>सत्र : 2005-2006</u>

<u>प्रमाण-पत्र</u>

प्रमाणित किया जाता है कि **सत्य नारायण साव** ने मेरे निरीक्षण एवम् निर्देशन में शीर्षक **"आधुनिक परिप्रेक्ष्य में गौतम बुद्ध के शैक्षिक विचारों का समीक्षात्मक अध्ययन विशेष रूप से त्रिपिटक के संदर्भ में"** पर बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय झाँसी की वर्ष 2005-2006 की एम.एड. उपाधि हेतु पूरी लगन और परिश्रम से सम्पूर्ण कार्य सम्पन्न किया है।

प्रस्तुत शोध इनका मौलिक कार्य है तथा इससे पूर्व कहीं प्रस्तुत नहीं किया गया है।

दि० 27.04.06

निर्देशक

(डॉ. अमरनाथ दत्त गिरि)
रीडर, शिक्षा संकाय
अतर्रा पोस्ट ग्रेजुएट कॉलेज,
अतर्रा (बाँदा)

पुरोवाक्

शिक्षा वह साधन है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने जीवन का पूर्ण लक्ष्य प्राप्त करने का प्रयास करता है। इसके लिए वह अपने लक्ष्य के अनुरूप ही शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था करता है। किसी भी व्यक्ति के जीवन का लक्ष्य उसके जीवन दर्शन द्वारा निर्धारित होता है, तथा इस लक्ष्य की प्राप्ति मे शिक्षा उसकी सहायता करती है। इस प्रकार जीवन, दर्शन एवं शिक्षा का त्रिकोणात्मक सम्बन्ध अपरिहार्य है।

जीवन का परिदृष्य जिस प्रकार का होगा, उसी प्रकार की शिक्षा व्यवस्था को हम पसन्द करेगे। यदि व्यक्ति के लिए जीवन भार स्वरूप है तो शिक्षा भी भार स्वरूप होगी और वह शिक्षा व्यवस्था मे बिल्कुल रूचि नही लेगा। यदि व्यक्ति का दृष्टिकोण भौतिकवादी है तब वह चाहेगा कि शिक्षा व्यवस्था इस प्रकार की हो जिसके द्वारा अर्थ कामिनी और यशकीर्ति पर अधिकार किया जा सके। ऐसी दशा मे वह सही व गलत तरीकों से धनोपार्जन करना चाहता है तथा भौतिक विकास को ही वह सब कुछ समझ लेता है। ऐसी दशा मे समाज अव्यवस्थित हो जाता है। अनेक प्रकार के संघर्ष होने लगते है। जिन व्यक्तियो का आध्यात्मिक दृष्टिकोण होता है वे चाहते है कि शिक्षा इस प्रकार से व्यवस्थित की जाय जिससे व्यक्तियों का आध्यात्मिक विकास है।

आधुनिक समाज का जीवन दर्शन भौतिकवादी हो गया है। आधुनिक शिक्षा व्यवस्था भी भौतिकता से अछूती नही है। शैक्षिक वातावरण इतना दूषित हो गया है कि शिक्षक शिक्षार्थी तथा शैक्षिक प्रशासन अपने कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों को

भूल गये है। शिक्षा संस्थाओं में अध्ययन-अध्यापन का वातावरण दूषित हो गया है। अत: शिक्षा में आमूल-चूल परिवर्तन की बात बड़े वेग से प्रसारित की जा रही है। दिग्गज नेता तथा विद्धान भी इसी बात को कहते आते रहे है कि शिक्षा में आमूल-चूल परिवर्तन अपेक्षित है, किन्तु मौखिक अभिव्यक्ति से कोई परिवर्तन नहीं लाया जा सकता है। शिक्षा को जीवन के साथ जोड़ने की बात प्राय: की जाती है। प्रश्न उठता है? कि क्या शिक्षा को जीवन से जोड़ने का अर्थ केवल व्यापार पद्धति, कृषि, औद्योगिक एवं प्राविधिक विषयों का ही ज्ञान कराना है? रोजगार प्राप्त करने के लिए क्या केवल व्यवसायिक शिक्षा ही दी जाय? सर्वथा नही। इन विषयों का सम्बन्ध केवल व्यक्ति के शारीरिक पक्ष से ही है। व्यक्ति केवल शरीर ही नही है, वह मस्तिष्क तथा आत्मा भी है। क्या बौद्धिक एवं आत्मिक विकास आवश्यक नही है? वास्तव में आध्यात्मिक उत्थान ही मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य होना चाहिए। शारीरिक विकास भी त्याज्य नही है। शरीर तो आध्यात्मिक विकास का सर्वोत्तम साधन है। अत: शिक्षा व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जिसमें मनुष्य को शारीरिक विकास के साथ-साथ आध्यात्मिक उत्थान का पूर्ण अवसर मिल सके। इस सर्वोत्तम लक्ष्य की प्राप्ति करने वाली शिक्षा ही सही शिक्षा है।

बौद्ध दर्शन के प्रभाव से विकसित बौद्ध शिक्षा इस दृष्टि से आदर्श मानी जा सकती है। आज हम शिक्षा में जिस परिवर्तन की बात कर रहे है वह परिवर्तन लाने में बौद्ध शिक्षा मार्ग दर्शन कर सकती है। बौद्ध शिक्षा में वे समस्त विशेषताएं विद्यमान थी जिनकी आज हम अपेक्षा कर रहे है। इन्हीं विशेषताओं को उद्घाटित करने के उद्देश्य से ही अनुसंधानकर्ता यह शोध प्रबन्ध प्रस्तुत कर रहा है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में छ: अध्याय है जो क्रमश: प्रस्तावना, भूमिका, आधुनिक परिप्रेक्ष्य में अध्ययन की आवश्यकता, औचित्य, उद्देश्य तथा सीमाओं

पूर्वानुसन्धानों के पुनरावलोकन, आधुनिक अध्ययन की विधि, साधनों के मूल्यांकन, बौद्ध दर्शन की तत्वमीमांसा, ज्ञान मीमांसा एवं मूल्य मीमांसा, बौद्ध दर्शन के शैक्षिक विचारधारा तथा शैक्षिक उद्देश्य, पाठ्यक्रम, शिक्षण विधि, छात्र सकल्पना, अध्यापक संकल्पना प्रौढ़ एवं सतत् शिक्षा व आदि से सम्बन्धित है।

बौद्ध शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य का पूर्ण आध्यात्मिक विकास करना था, किन्तु शारीरिक विकास की उपेक्षा नही की गयी थी। उद्देश्य के अनुरूप ही पाठ्यक्रम की व्यवस्था की गयी थी। आध्यात्मिक विषयों के साथ-साथ लौकिक विषयों को भी पाठ्यक्रम में स्थान दिया गया था। धर्म तथा दर्शन के अध्ययन पर विशेष बल दिया जाता है। बौद्ध दर्शन के अतिरिक्त अन्य दर्शनों का भी अध्ययन कराया जाता था। भिक्षुओं के लिये पाठ्यक्रम पृथक था। मन्द बुद्धि तथा प्रतिभाशाली छात्रों के लिये अलग-अलग शिक्षण विधियों का प्रयोग किया जाता था। छात्र आचार्य सम्बन्ध मधुर थे। छात्र अपना कर्त्तव्य करते थे तथा आचार्य भी अपने उत्तरदायित्वों का पूर्ण निर्वाह करते थे। कुछ छात्र आजीवन शिक्षा ग्रहण करते थे।

स्त्रियों को भी समान रूप से शिक्षा दी जाती थी। स्त्रियों के लिये पृथक विद्यालयों का उल्लेख नहीं प्राप्त होता है, अतः ऐसा माना जा सकता है कि सह शिक्षा की प्रथा थी।

वैदिक काल में आश्रमों में ही शिक्षा दी जाती थी। छठी शताब्दी ई0पू0 धार्मिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप बौद्ध धर्म का उदय हुआ। बौद्ध धर्म का जन्म चूँकि ब्राह्मण धर्म के प्रतिरोध के कारण हुआ था, अतः बौद्ध धर्म ने ब्राह्मण शिक्षा के समानान्तर विहारों तथा मठों में शिक्षा का कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। कालान्तर में इन विहारों ने विश्वविद्यालय का रूप ले लिया और उत्तर भारत में तक्षशिला, नालन्दा, विक्रमशिला, वल्लभी आदि विश्वविद्यालयों का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में उल्लिखित है।

प्रस्तुत शोध अध्ययन शिक्षाशास्त्र के 'गुरुदेव' डॉ. अमरनाथ दत्त गिरि के निर्देशन में सम्पन्न हुआ। वन्दनीय डॉ. अमरनाथ दत्त गिरि ने ही मुझे स्नेह सहानुभूति, आशीर्वाद, ज्ञान एवं सक्रिय निर्देशन प्रदान किया उसके कारण ही मै यह शोध प्रबन्ध प्रस्तुत करने में समर्थ हो सका। वस्तुत: सहृदय एवं सरल व्यक्तित्व के धनी डॉ. गिरि जी के दर्शन मात्र से ही निर्देशन प्राप्त हो जाता है। मैं शिक्षाशास्त्र विभाग के विभागाध्यक्ष डॉ. डी.एस. श्रीवास्तव के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिन्होंने मुझे सक्रिय सहयोग एवं मार्ग दर्शन दिया। शिक्षाशास्त्र विभाग के मैं समस्त गुरुजनों को हृदय से कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिन्होंने अपने आशीर्वचन से मार्ग दर्शन दिया। श्री राममूर्ति पाण्डेय का मै अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होंने विषय से सम्बन्धित जगह-जगह पर सुझाव एवं सत् परामर्श देकर शोध प्रबन्ध में सहयोग प्रदान किया। शोध प्रबन्ध में अपने मित्रगण श्री स्वप्नल भट्ट, प्रदीप कुमार राणा तथा राघवेन्द्र दीक्षित का आभारी हूँ जिन्होंने मुझे अत्यधिक प्रेरणा देकर शोध प्रबन्ध पूर्ण करवाया। अन्त में अपने पूज्यनीया माता जी श्रीमती भारती देवी तथा पितृदेव श्री शक्तिपद साव (सेवारत शिक्षक) के प्रति नतमस्तक हूँ जो शिक्षा तथा शोधकार्य के लिए मुझे सदैव प्रेरित करते रहे। शोध प्रबन्ध में मेरे बड़े भाई श्री कार्तिक चन्द्र एवं छोटे भाई श्री संजीव कुमार एवं श्री उदित कुमार तथा मामा श्री प्रकाश कुमार जी के सहयोग एवं प्रेरणा से शोध प्रबन्ध प्रस्तुत हुआ।

Satya Narayan Saw

निर्देशक	शोधकर्ता
डॉ. अमरनाथ दत्त गिरि	**सत्य नारायण साव**
शिक्षा संकाय	बी.ए. (प्रतिष्ठा इतिहास)
अतर्रा कालेज, अतर्रा, बुन्देलखण्ड	एम.एड. छात्र
विश्वविद्यालय, झाँसी	

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

प्रस्तावना अथवा भूमिका

भारतीय इतिहास के पन्ने यह स्प्ट करते है कि मानव का इतिहास शिक्षा के इतिहास से जुड़ा हुआ है। शिक्षा के उद्देश्य, शिक्षा की पृष्ठभूमि तथा मानव जीवन दार्शनिक विचारधाराओं पर आधारित होते है और समय-समय पर परिवर्तित भी होते रहते है। दर्शन और शैक्षिक विचार मानव जीवन में चिन्तन और विचार विमर्श से सम्बन्ध रखते है। मानव अपना जीवन जहाँ से प्रारम्भ करता है वह मनुष्य का निवास स्थल पृथ्वी ही है और पृथ्वी पर रहने वाले समस्त प्राकृतिक जीव जन्तुओं सम्पदाओं और उनके क्रियाकलापों का गहरा सम्बन्ध होता है। इस दृष्टि से जब हम विचार करते है तो जीवन का स्वरूप और उसका परस्पर सम्बन्ध और उसका उद्देश्य क्या है यह विचारणीय बिन्दु मनुष्य के समक्ष उपस्थित हो जाता है। जब हम सम्पूर्ण संसार का अध्ययन इस शैक्षिक और दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में करते है तो देशकाल और परिस्थितियों के आधार पर बहुत विविधताएं दिखायी पड़ने लगती है। एक विचारधारा दूसरे विचारधारा से भिन्न हुआ करती है। शैक्षिक दर्शन प्राकृतिक मानवकृत वस्तुओं, व्यक्तियों और देशकाल तथा परिस्थितियों के कारण भिन्न-भिन्न रूप लेकर मनुष्य के विचारों को प्रभावित करता है। इससे यह पता चलता है कि मनुष्य के जीवन दर्शन का शिक्षा पर गहरा प्रभाव पड़ता है और आज यह देखने को भी मिल रहा है कि वह आदि मानव शिक्षा और दर्शन तथा जीवन दर्शन के आधार पर धीरे-धीरे वैज्ञानिक विकास की चरमसीमा पर पहुँचता जा रहा है। और इतना ही नही भविष्य मे यह आशा की जा रही है कि वह उत्तरोत्तर विकास के पथ पर रहेगा। शिक्षा और दर्शन की विचारधाराओं को ध्यान में रखकर यदि सम्पूर्ण संसार का अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट हो

जायेगा कि मनुष्य ने इस संसार को कितना बदल दिया है। और इतना ही नहीं आज के वैज्ञानिक अनुसंधान और प्रयोग, जीवन मूल्यों और आदर्शो को नये रूप में निर्धारित कर रहे है।

भारतीय इतिहास में आदिम मानव और उसके आदिम विचार का जब हम अध्ययन करते है तो यह पाते है कि आदिकाल में जब इस सृष्टि की रचना हुई होगी तो उसमें मनुष्य अपने को सर्वप्रथम ईश्वर और प्रकृति के बीच में देखा होगा। अपने आस-पास की प्राकृतिक और नैसर्गिक वस्तुओं से खाद्य सामाग्री इकट्ठा किया होगा। जीव जन्तुओं को आहार बनाया होगा। पशुओं पर पत्थर के टुकड़ें फेकर शिकार करना और मारना सीखा होगा। अपनी सुरक्षा के लिए गुफाओं और पेड़ों पर रहना सीखा होगा। यह मनुष्य की प्रारम्भिक अवस्था रही होगी। जैसा कि प्रागैतिहासिक प्रमाणों से सिद्ध होता है कि यही से मनुष्य का विकास प्रारम्भ होता है और इस विकास के पीछे उपरोक्त दार्शनिक पृष्ठभूमि दिखायी देती है। इससे यह पता चलता है कि मनुष्य में जैसी भावनाएं और जैसे विचार उत्पन्न होते है, उन्हीं से वह उत्प्रेरित होकर इस धरती के स्वरूप को वह बदलता है। मनुष्य की प्रारम्भिक दुनिया बहुत सीमित थी और परस्पर सम्बन्ध भी बहुत कम थे। धीरे-धीरे इसका अध्ययन होने लगा और परस्पर सम्बन्ध भी बढ़ता चला गया और मनुष्य सुखमय जीवन व्यतीत करने के लिये अपने प्राचीनस्वरूप को बदलने लगा। इस प्रकार दार्शनिक विचारधाराओं ने इस संसार को श्रृंखलाबद्ध करने में परस्पर सहयोग प्रदान करने लगा। धीरे-धीरे यह अनुभव किया जाने लगा कि मनुष्य का मनुष्य बनाने में शिक्षा का महत्वपूर्ण योगदान है। और इसी विचारधारा में

शिक्षा के सार्वभौमिक और शाश्वत लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए चिन्तन प्रारम्भ किया। भारतीय इतिहास को देखने से यह पता चलता है कि भारत विश्व का एक प्राचीनतम् देश है जहाँ जीवन चिन्तन की यह धारा सर्वप्रथम प्रस्फुटित हुई है। और धीरे-धीरे इसकी लहर विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में फैलने लगी। यह निर्विवाद सत्य है कि वैदिक युग में इन विचारों का प्रस्फुटन प्रारम्भ हो चुका था। वैदिक कालीन भारत का निर्माण राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में न होकर विशेष रूप से धर्म के क्षेत्र में ही हुआ था। जीवन के प्राय: सभी अंगों में धर्म की ही प्रधानता थीं उस समय भारत में शिक्षा तथा ज्ञान की खोज केवल ज्ञान प्राप्त करने के लिए ही नहीं हुई बल्कि धर्म के मार्ग पर चलकर मोक्ष प्राप्त करने का एक साधन था। उस समय संसारसे मुक्ति पाने के लिए एक चिरन्तन और स्थायी जीवन की कल्पना की गयी। इस प्रकार भारतीय जीवन दर्शन और शिक्षा की परम्परा आध्यात्मिक हो गयी।

इस आध्यात्मिक पृष्ठभूमि का प्रभाव उस समय की शिक्षा पर पड़ा। धीरे-धीरे गुरु गृह में रहते हुए विद्यार्थी समाज के सम्पर्क में आने लगा। इस प्रकार वैदिक कालीन शिक्षा पद्धति का विकास होता रहा। इनका शैक्षिक उद्देश्य उपदेशात्मक और सन्देशवाहक के रूप में चलता रहा। तत्पश्चात् उत्तर वैदिक शिक्षा का कार्यकाल जो 1000 ई0पूव0 से 2000 ई0पू0 तक माना जाता है प्रारम्भ होता है। इस समय में ब्राह्मण, अरण्यक और उपनिषद् उपकाल के रूप में प्रचलित हुए। इस समय शिक्षा का स्वरूप बदलने लगा और शिक्षा जीवन के लिए मानी जाने लगी। और शिष्य को ज्ञान देने के लिए शिक्षक

का स्थान बढ़ने लगा। इसी क्रम से सूत्र साहित्य का युग भी आता है जिसका विषय क्षेत्र छन्द, व्याकरण, निरूक्त-कल्प और ज्योतिष रहा है जिसे वेदांग कहा जाता था। यह प्राचीन भारतीय शिक्षा का महत्वपूर्ण रचनात्मक युग रहा है। उत्तर वैदिक काल प्राचीन भारतीय साहित्य में जीवन को सुखमय बनाने के लिए उच्चकोटि की 64 कलाओं का प्रदर्शन मिलता है किन्तु यहाँ यह कहना अत्यन्त आवश्यक होगा कि पालि साहित्य के अनुसार अस्सी कलाएं[1] (सिप्प) मानी गयी है। इससे यह एक सत्य सामने आता है कि बौद्ध काल में शैक्षिक विचार बहुत ही उन्नतिशील रहे है। इसी क्रम में ब्राह्मण शिक्षा का काल प्रारम्भ होता है। जिसमें शिक्षा ''आलोक का साधन'' माना गया है। इसका तात्पर्य यह है कि शिक्षा प्रकाश की भांति जीवन के पथ को प्रतिविम्बित करती है। इस प्रकार धीरे-धीरे ज्ञान का विकास होता रहा। उपनिषदों और गीता द्वारा ज्ञान की जो धारा प्रवाहित हुई वह आज भी किसी न किसी रूप में निर्वाध रूप से वह रही है। बुद्ध और महावीर जैसे महात्माओं ने अहिंसा और प्राणिमात्र के प्रति विश्व बन्धुत्व की भावना के जो उपदेश दिये थे वे आज तक हम देश में जीवित और जागृत है और इक्सीवी सदी के लिए वे उपयोगी सिद्ध हो सकते है। यद्यपि कुछ न्यूनता जो दिखायी पड़ती है वह समय और परिस्थितियों के प्रभाव के कारण है। कालान्तर में गौतम बुद्ध और बर्धमान महावीर जैसे तीर्थकंर और स्थविर वैदिक कालीन प्रमाणों को स्वीकार नही करते थे। बौद्धों और जैनों द्वारा जिस सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया वे छः आस्तिक दर्शनों के मन्तव्यों से भिन्न अवश्य है किन्तु फिर भी बौद्ध कालीन दार्शनिक विचारों ने प्राचीन सनातन वैदिक धर्म की शैक्षिक विचार धारा

को बदलने में बहुत समर्थ नही रहे है, क्योंकि भारत के चिन्तकों का यह शैक्षिक उपदेश रहा है कि सबको अपने में और अपने में सबको देखो। सर्वत्र एकत्व का अनुभव करो, इसी का यह परिणाम रहा कि समन्वय और सामंजस्य की प्रवृत्ति में बुद्ध को भारत के सनातन धार्मिक धारा का अंग बना लिया और बुद्ध को परिगणना अवतार के रूप में कर ली गयी और अहिंसा तथा मैत्री भावना की जो शिक्षा बुद्ध द्वारा प्रदान की गयी, उसे हिन्दू धर्म ने आत्मसात कर लिया। इसी क्रमवार वैदिक धर्म के मन्तव्यों ने बौद्ध धर्म को प्रभावित किया और बुद्ध की शिक्षा ने वैदिक धर्म को प्रभावित किया। इसी प्रकार बौद्धों के विज्ञानवाद और शून्यवाद के प्रभाव से शंकराचार्य ब्रह्म के स्वरूप का नये ढंग से प्रतिवादन की और अद्वैववाद का जो सिद्धान्त वेदान्त दर्शन में निरूपित किया वह सिद्धान्त बौद्ध-दर्शन से भिन्न नही था। इसी भावना से प्रेरित होकर शोधकर्ता ने ''आधुनिक परिप्रेक्ष्य में गौतम बुद्ध के शैक्षिक विचारों का समीक्षात्मक रूप से अध्ययन विशेष रूप से त्रिपिटक के सन्दर्भ में '' पर विचार करने के लिए वाध्य होना पड़ा।

1.1 आधुनिक परिप्रेक्ष्य में अध्ययन की आवश्यकता :-

प्रत्येक अनुसंधान एक विशेष प्रकृति की समस्या का वैज्ञानिक समाधान प्रस्तुत करता है। प्रस्तुत अनुसंधान की समस्या आधुनिक परिप्रेक्ष्य में गौतम बुद्ध के शैक्षिक विचारधारा का समीक्षात्मक अध्ययन से सम्बन्धित है। बौद्ध दर्शन एवं शिक्षा का अध्ययन दर्शन, शिक्षा एवं इतिहास तीनों विषयों के अनुसंधानकर्ताओं एवं अध्येताओं के लिये बहुत महत्वपूर्ण है। किसी भी देश का आदर्श उसकी शिक्षा संस्थाओं में ही प्रतिबिम्बित होता है। प्राचीनकाल में यह

बात विशेषत यथार्थ थी क्योंकि उस युग में उदीयमान सन्तति को राष्ट्रीय परमपराओं के रंग में रंगने तथा तद्नुकूल आचरण करने के लिए प्रोत्साहित करने के प्रधान केन्द्र विद्यालय ही थे। इन विद्यालयों का उदय सर्वप्रथम बौद्धकाल में होता है। सर्वप्रथम इसी समय में बौद्ध विहारों के क्रमिक विकास के परिणामस्वरूप वर्तमान विद्यालयों का जन्म हुआ। अत: बौद्ध दर्शन एवं शिक्षा से सम्बन्धित प्रस्तुत अध्ययन विशेष महत्वपूर्ण हो जाता है।

एक दूसरे दृष्टि से भारतीय शिक्षा के दर्शन का विवेचन पाया जाता है और वह है पाश्चात्य शिक्षादर्शन के सम्प्रदायों के अन्तर्गत भारतीय चिन्तन का वर्गीकरण। उपनिषद्, पुराण, महाभारत, रामायण, जैन एवं बौद्ध ग्रन्थों में वर्णित कुछ सम्बद्ध बातों को आदर्शवाद, प्रकृतिवाद, यथार्थवाद, प्रयोजनवाद के अन्तर्गत रखकर विवेचन किया जाता है। इस प्रकार विशृंखलित सामाग्री को बिना उसके उचित परिप्रेक्ष्य में देखे किसी सम्प्रदाय विशेष के अन्तर्गत रखना शैक्षिक एवं तार्किक दृष्टि से अनुचित है। वास्तविकता तो यह है कि भारतीय शिक्षा दर्शन से सम्बन्धित सामाग्री उपनिषदों, महाकाव्यों, जैन एवं बौद्ध ग्रन्थों में विखरी पड़ी है। इसका संगठित एवं क्रमबद्ध वैज्ञानिक अध्ययन आवश्यक है। आधुनिक अध्ययन इसी ओर किया गया एक प्रयाश कहा जा सकता है।

जहाँ एक ओर पाश्चात्य शिक्षादर्शन से सम्बन्धित सामाग्री की प्रचुरता है वही दूसरी ओर भारतीय शिक्षा दर्शन की ओर अनुसंधानकर्ताओं ने ध्यान नहीं दिया है। पिछले दशक से इस दिशा में भी प्रयास आरम्भ हुए है। भारतीय शिक्षादर्शन विषयक कुछ कार्य सम्पन्न हुए किन्तु अधिकतर किसी एक दार्शनिक

के विचारों का लेकर प्रस्तुत किये गये है। गांधी, टैगोर, अरविन्द, विवेकानन्द, राधाकृष्णन् आदि दार्शनिकों के जीवन दर्शन एवं शैक्षिक दर्शन का विश्लेषण अनेक शोध ग्रन्थों में मिलता है। इस दृष्टि से भी प्रस्तुत अध्ययन भिन्न है। पुनश्च भारतीय शिक्षा दर्शन विषयक ग्रन्थों में प्राचीन प्रणाली का उल्लेख मिलता है जिसमें ऐसी भ्रान्ति होती है मानों भारतीय दर्शन केवल ऐतिहासिक चर्चा का विषय है। अनुसंधानकर्ता प्रायः भ्रान्ति धारणा कर बैठते है कि भारतीय शिक्षा दर्शन प्राचीन शिक्षा प्रणाली में ही अभिलक्षित होता है। सच तो यह है कि प्राचीन शिक्षा प्रणाली तथा प्राचीन भारतीय शिक्षा दर्शन दोनों पृथक एवं स्वतन्त्र विषय है। वस्तुतः ऐसी भ्रान्त धारणा का कारण भारतीय शिक्षा दर्शन के क्षेत्र में अनुसंधानों की कमी है। प्राचीन ग्रन्थों तथा पुरालेखों में विखरी हुई भारतीय शिक्षा दर्शन सम्बन्धी तथ्यों के वैज्ञानिक एवं क्रमबद्ध विवेचन की आवश्यकता हैं। प्रस्तुत अनुसंधान आधुनिक परिप्रेक्ष्य में गौतम बुद्ध के शैक्षिक विचार धाराओं का समीक्षात्मक अध्ययन विशेषरूप से त्रिपिटक के सन्दर्भ में इस आवश्यकता की आंशिक अभिपूर्ति कर सकता है।

आधुनिक भारतीय शिक्षा प्रणाली अंग्रेजी शासन की देन है। यह शिक्षा प्रणाली अपने विशिष्ट कृत्रिम संचरित वातावरण के फलस्वरूप स्वाभाविक भारतीय सामाजिक वातावरण के साथ समुचित सामंजस्य स्थापित नही कर पाती। अतः वास्तविक जीवन से दूर, व्यवहारिकता से बहुत दूर औपचारिकता के शिकंजों जकड़ी होने के कारण अपना वास्तविक स्वरूप और उद्देश्य खो बैठी है। वर्तमान औपचारिक शिक्षा प्रणाली में शिक्षक भी कोरे ज्ञान की गठरी

लिए अव्यावहारिकता एवं अकर्मण्यता का प्रतिवादन करते फिरते है और समाचार यह है कि विद्यार्थी उन्हें जीवन से अलग देखकर उन्हीं का अनुसरण करते हुए निरूद्देश्य नौकरियों की मोहिनी के पीछे भागते रहते है। इस प्रकार आधुनिक शिक्षा प्रणाली शिक्षित बेरोजगारी-सामाजिक असन्तुलन आदि को जन्म देती है। एक वन्द वृत्त के समान है जिसके अनुसार अध्ययन करने पर जीवन में एक ठहराव सा आ जाता है। वस्तुतः आधुनिक शिक्षा इस विश्वास पर आधारित है कि शिक्षा जीवन की तैयारी के लिये है। वस्तुतः इसके विपरीत यह होना चाहिए कि शिक्षा जीवन अनुभव के साथ सतत् चलने वाली प्रक्रिया है। जीवन ही शिक्षा है और शिक्षा ही जीवन है। आधुनिक शिक्षा प्रणाली में शिक्षित भारतीय सामाजिक प्रणाली में समस्या न ही हो पाते। यह एक ऐसी बन्द प्रणाली है जिसके कार्यकाल का विस्तार उसमें प्रवेश और उसका समापन नियमों से जकड़ा हुआ है। उसमें लचीलापन नही है। यह केवल प्रमाण पत्र एवं उपाधियाँ वितरित करने का यंत्र मात्र है जो केवल ''मैट्रीकुलेटो' एवं 'ग्रेजुएटो' की संख्या में वृद्धि करती है किन्तु मानव मन में ज्ञान की पिपासा जागृत कर वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन की उन्नति में सहायक नहीं बन पाती है।

अतः आधुनिक शिक्षा प्रणाली में परिवर्तन अवश्यम्भवी है। आधुनिक शिक्षा को धर्म, संस्कृति, दर्शन, आध्यात्म, नैतिक मूल्यों, जीवन मूल्यों, आदर्शो से युक्त करना होगा और इसकी निरन्तरता को स्थापित करना होगा। इस दृष्टि

से बौद्ध शिक्षा दर्शन तथा प्रस्तुत दर्शन की आवश्यकता, उपयोगिता एवं महत्व असंदिग्ध है।

1.2 आधुनिक परिप्रेक्ष्य में अध्ययन के उद्देश्य :-

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में अध्ययन के निम्नलिखित उद्देश्य स्वीकार किये गये है-

1. बौद्ध धर्म के तत्व मीमांसात्मक पक्ष का संक्षिप्त अध्ययन करना।
2. बौद्ध दर्शन के ज्ञान मीमांसात्मक पक्ष का संक्षिप्त अध्ययन करना।
3. बौद्ध दर्शन के मूल्य मीमांसात्मक पक्ष का संक्षिप्त अध्ययन करना।
4. बौद्ध दर्शन के आधुनिक परिप्रेक्ष्य में गौतम बुद्ध के शैक्षिक विचार धाराओं का निम्नलिखित बिन्दुओं के सन्दर्भ में विश्लेषण करना।

    क. शैक्षिक उद्देश्य

    ख. पाठ्यक्रम

    ग. शिक्षण विधि

    घ. छात्र संकल्पना

    ड़. अध्यापक संकल्पना

    च. प्रौढ़ शिक्षा एवं सतत् शिक्षा

1.3 आधुनिक परिप्रेक्ष्य में अध्ययन की सीमाएँ :-

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में अध्ययन को अधिक वैज्ञानिक एवं वस्तुनिष्ठ बनाने के उद्देश्य से निम्न प्रकार से सीमित कर दिया गया है :-

1. प्रस्तुत अध्ययन को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में गौतम बुद्ध के शैक्षिक विचार धाराओं तक ही सीमित रखा गया है। बौद्ध दर्शन का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। बौद्ध दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों को अध्ययन का विषय नहीं बनाया गया है।

2. वैधता एवं विश्वसनीयता को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत अध्ययन को चीनी यात्रियों के विवरणों, जातकों तथा अन्य बौद्ध ग्रन्थों द्वारा प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर ही प्रस्तुत किया गया है।

3. समयाभाव के कारण तथा अधिक विस्तृत न करने के उद्देश्य से प्रस्तुत अध्ययन में शिक्षण संस्थाओं के आर्थिक पक्ष का विवेचन नहीं किया गया है।

द्वितीय अध्याय

संबंधित साहित्य का अध्ययन

भारतवर्ष के इतिहास में बौद्ध-युग का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस युग में भारतीय विचार-जगत् में विशेष उथल-पुथल देखने का मिलती है। सामाजिक और धार्मिक नवचेतना के इस युग में बुद्ध तथा महावीर सदृश महापुरुषों का इस देश में जन्म हुआ, जिन्होंने संसार को सत्य और अहिंसा का वह संदेश दिया जो भव-व्याधि से पीड़ित मानव के लिए वरदान हो गया। भगवान बुद्ध के संदेश उत्तुंग हिमगिरि तथा उत्ताल जलधि-तरंगों का अतिक्रमण कर अनेक देशों में प्रसारित हुए। उन्होंने धार्मिक जगत को संघीय जीवन-पद्धति दी जिसका अवान्तरकालीन संम्प्रदायों में बड़ा प्रभाव पड़ा। इस युग में कई नये मतों का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने तत्कालीन भारतीय समाज में व्याप्त रूढ़ियों, कुरीतियों तथा अन्धविश्वासों के प्रतिकार का मार्ग प्रशस्त किया। जातिवाद का सर्वप्रथम विरोध बुद्ध तथा महावीर ने किया। उन्होंने वेद तथा ब्राह्मण की प्रभुता को भी चुनौती दी। बुद्ध तथा महावीर के धर्मोपदेश जनता की भाषा में भी दिए गए अतः वे सभी के लिए बोधगम्य हो सके। ब्राह्मण ग्रंथ दुरूह होने के कारण जनता के लिए दुर्बोध हो गये थे। अतः नवीन विचारों का जन-मानस पर बड़ा अनुकूल प्रभाव पड़ा। भगवान बुद्ध के धर्मोपदेश का राजा तथा जनता दोनों ने स्वागत किया। बुद्ध के समकालीन अनेक प्रमुख ब्राह्मणों ने बौद्धधर्म को स्वीकार ही नहीं किया, इस मत के दार्शनिक आधार को सुदृढ़ बनाया।

भगवान् बुद्ध ने अपने दर्शन का प्रमुख आधार इन दोनों तत्वों को बनाया-

1. उन्होंने दर्शन की जटिलताओं में न आकर एक सर्वबोधगम्य आचार संहिता के पालन का उपदेश दिया और 2. तत्कालीन सामाजिक तथा धार्मिक रीतिरिवाजों का विरोध न करके एक सुधारक के रूप में ततयुगीन कुरीतियों के प्रतिकार का प्रयास किया। इन दोनों कारणों से बौद्ध धर्म सर्वाधिक लोकप्रिय हुआ और अपने युग के चेतना को बहुलांश में प्रभावित कर सका।

बौद्ध-मत का व्यापक प्रचार हुआ और क्रमश: बौद्ध पालि-साहित्य समृद्ध होता गया। प्रथम तो बुद्धवचनों को स्मृति में सुरक्षित रखा गया, परन्तु कालान्तर में उन्हें लिपिबद्ध कर दिया गया। बौद्ध परम्परा के अनुसार बुद्ध-निर्वाण के तुरंत बाद बुद्ध-वचनों का संकलन किया गया- पहली बौद्ध संगीति में जिसकी बैठक राजगृह में हुई थी। पुन: बुद्ध-निर्वाण के एक शताब्दी पश्चात् वैशाली में बौद्ध भिक्षुओं की दूसरी संगीति हुई। पहली तथा दूसरी संगीतियों की प्रामाणिकता सर्वमान्य नहीं है। परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं है कि सम्राट अशोक के समय में पालि-पिटक का संकलन करके उन्हें लिपिबद्ध कर दिया गया। दीपवंश तथा महावंश के अनुसार बुद्ध-निर्वाण के 236वें वर्ष में 'मोग्गलिपुत्त स्रिस्स' के सभापतित्व में एक सहस्र बौद्ध-भिक्षुओं की संगीति पाटलिपुत्र नगर में हुई, जिसमें सद्धर्म अथवा थेरवाद के सिद्धान्तों का संकलन किया गया। अशोक के अभिलेखों में अशोक द्वारासंघ की एकता को स्थाई बनाने का प्रयास के उल्लेख हैं। बौद्ध-मत के शुद्ध रूप को कायम रखने के लिए बौद्ध-समुदाय में प्रयत्न किये जा रहे थे और अशोक ने इस दिशा में ठोस कार्य किया। इसी प्रयास का यह प्रमुख परिणाम हुआ कि त्रिपिटक के

रूप में बौद्ध-मत के सिद्धान्त लिपिबद्ध हो गये। तीसरी संगीति में जिस पालि पिटक का संकलन किया गया उसकी एक प्रति लेकर कुमार महेन्द्र लंका चले गये। बाद में वह भी वहाँ अस्त-व्यस्त हो गया, अतः पाँचवी शताब्दी ई0 सन् में लंकाधिपति वट्टगामनी ने उनका पुनः संकलन कराया। इस प्रकार उसे वह रूप प्रदान किया गया जो अब तक सुरक्षित है। यह साहित्य-भण्डार बुद्ध युग के राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास के ज्ञान के लिए एक बहुमूल्य निधि है जिसमें समकालीन समाज का प्रामाणिक विवरण उपलब्ध होता है।

बौद्ध-काल का इतिहास ज्ञात करने के लिए पालि-पिटक प्रामाणिक है इसमें कतिपय विद्वानों का संदेह है, पर विविध दृष्टिकोणों से विचार करने पर यह ग्राह्य नही है। अलिखित होने पर भी बुद्ध के प्रमुख उपदेशों को बौद्ध भिक्षुओं ने यत्नपूर्वक यथावत् सुरक्षित रखा होगा इसमें संदेह का कोई आधार नही दीखता, क्योंकि भारत में वेद की शिक्षा मौखिक रूप से प्रदान की जाती रही वे उसी रूप में सहस्र वर्षो तक सुरक्षित रहे। अशोक के पूर्व पालि-पिटक के प्रमुख अंशों को भी मौखिक रूप से सुरक्षित रखा गया और आवश्यकता होने पर बौद्ध-मत के विभिन्न विषयों के ज्ञाताओं से शंकाओं का समाधान किया जाता रहा। बुद्ध-निर्वाण के एक शताब्दी पश्चात् जब वज्जिपुत्र भिक्षुओं ने दस निषेधों का आचरण करना प्रारम्भ किया, तब रेवत से पूछा गया कि वैशाली के भिक्षुओं का आचरण भगवान बुद्ध द्वारा उपदिष्ट धर्म के अनुकूल है अथवा नही? रेवत को धम्म, विनय, आगम तथा मातिकाओं (मात्रिकाओं) का ज्ञाता कहा गया है। प्रख्यात प्राच्यविद् ओल्डेनवर्ग तथा विंटरनिट्स ने भी संकलन के पूर्व मौखिक रूप में पालि-पिटक के प्रर्याप्त अंश की विद्यमानता

को स्वीकार किया है। यह भी उल्लेख सुलभ है कि बौद्ध-भिक्षु बुद्ध वचनम् का कंठस्थ पाठ करते थे। चुल्लवग्ग (4/4/4) में स्पष्ट किया गया है कि सुत्तन्त का पाठ करने वाले भिक्षु सुत्तन्तिक, धम्म का पाठ करने वाले धम्मकथिक और विनय के ज्ञाता विनयधर थे।

बुद्ध के उपदेशों को किसी न किसी रूप में सुरक्षित रखने की अनिवार्यता को बुद्ध-निर्वाण के तत्काल पश्चात् ही अनुभव किया गया होगा। जब भगवान बुद्ध का निर्वाण आसन्न हो गया तो आनन्द शोकाकुल हो गये। भगवान ने उनके अश्रुपूर्ण नेत्रों को देखकर कहा- 'हे आनन्द, आपलोगों को यह सोचकर कष्ट होगा कि हमारे मार्गदर्शक अब हमारे बीच नहीं रहे। परन्तु हे आनन्द यर्थाथत: ऐसा नहीं है। मैंने जिस धर्म तथा विनय का आप सभी को उपदेश दिया है, वे ही मेरे निर्वाणोपरान्त आपका मार्गदर्शन करते रहेंगे। बुद्ध-निर्वाण के साथ ही उपदेशों के मर्मज्ञ भिक्षुओं का अन्त नहीं हो गया। ऐसा कोई संकेत नहीं मिलता कि भिक्षुओं द्वारा उनकी शिक्षाओं के शुद्ध रूप को सुरक्षित रखने का प्रयास की गति अवरूद्ध हो गयी। धर्मा धर्म, विनया विनय का स्वरूप निर्धारित होता रहा; इन पर भिक्षु विचार विमर्श करते रहे। कभी-कभी भिक्षुओं में मतभेद भी हुए। सूत्रों में ऐसे प्रसंगों के उल्लेख भी मिलते हैं जब किसी विषय के औचित्यानौचित्य का विचार करने के लिए सुत्त तथा विनय का सहारा लेना पड़ता था। इसका यह अर्थ हुआ कि सुत्त और विनय के ज्ञाता भिक्षुओं से या तो शंका समाधान किया जाता था अथवा लिखित ग्रंथ को देखना पड़ता था। अशोक के समय तक किसी न किसी रूप में पालि-पिटक का विकास हो गया था। उनके बैराट अभिलेख में

विनय-समुत्कर्ष आर्यवंशानि, अनागत-भयानि, मुनि-सुत, उपतिष्य-प्रश्न तथा राहुलोवा उल्लेख से अशोक-पूर्व पालि-पिटक का कम से कम आंशिक अस्तित्व तब प्रतीत होता है। मिलिन्द-पन्हों, दीपवंश, महावंश आदि अवान्तरों से भी ईसवी सन् की प्रारम्भिक सदियों में त्रिपिटक के अस्तित्व का समर्थन प्राप्त है।

इस बात का दावा नहीं किया जा सकता कि भगवान बुद्ध ने जिस भाषा में अपना उपदेश दिया उसका मूलरूप आजतक अपरिवर्तित रहा। तीसरी संगीति में पिटकों के संकलन, उनका लंका पहुँचना तथा सदियों पश्चात् वहाँ पुनः सम्पादन के क्रम में मूल पिटकों का अनेक परिवर्तनों से होकर गुजरना अत्यन्त स्वाभाविक है। कई नई बातें अवान्तर काल में समाविष्ट कर दी गई होंगी। पिटकों में कहीं-कहीं विरोधीभास भी मिलता है। परन्तु इतना होने पर भी उनका वह स्वरूप जो तीसरी संगीति में प्राप्त हुआ, अधिकांशतः सुरक्षित ही रहा। पालि पिटक के प्रति भिक्षुओं के हृदय में जो अपार श्रद्धा थी और भगवान बुद्ध के उपदेशों के मूल-रूप की रक्षा का जो उत्साह था, उसने अश्वमेघ पिटकों को सुरक्षा प्रदान किया होगा। भाषा में परिवर्तन हुआ अवश्य, पर भाव वही बने रहे। मज्झिम-निकाय के अनुसार स्वयं बुद्ध ने भी कहा कि उनके विचार महत्वपूर्ण हैं शब्द नहीं। अतः इसी भावना के कारण बुद्ध के उपदेशों का मूल अर्थ लुप्त नहीं हो पाया।

पालि-पिटक के तीन अंग हैं- (क) विनय-पिटक, (ख) सुत्त-पिटक तथा (ग) अभिधम्म-पिटक- इन तीनों के संकलन का त्रिपिटक नाम पड़ा।

विनय-पिटक भिक्षु-संघ के नियमों का संग्रह, सुत्त-पिटक बुद्ध के प्रवचनों का और अभिधम्म-पिटक दार्शनिक विषयों का विवेचनात्मक ग्रंथ है। विनय-पिटक तथा सुत्त-पिटक में तत्कालीन समाज, धर्म आदि विभिन्न विषयों का सविस्तार ज्ञान प्राप्त होता है। भिक्षु-जीवन के नियम बनाने के क्रम में तत्कालीन समाज में प्रचलित अनेक रीति-रिवाजों के प्रासंगिक उल्लेख मिलते हैं। भगवान् बुद्ध ने भिक्षु-जीवन की जिस संहिता का निर्माण किया उस पर तत्कालीन धार्मिक तथा सामाजिक आचार-विचार की गहरी छाप पड़ी। उन्होंनें समय-समय पर उन नियमों का संशोधन किया जो सामाजिक परम्परा के प्रतिकूल हो गये थे अथवा जिनके कारण समाज में भिक्षु-संघ की निन्दा होने लगी थी। बुद्ध का लक्ष्य बौद्ध-मत को लोकप्रिय बनाना था अतः उन्होंने भिक्षुओं के आचार-विचार में उन नियमों को स्थान नहीं दिया जिससे समाज में संघ की प्रतिष्ठा पर आँच पहुँचती।

बुद्ध के प्रवचनों के संग्रह को सुत्त-पिटक नाम दिया गया, जिसमें प्रमुख थेरों के उपदेशों तथा गाथाओं को भी समाहित किया गया। सुत्त-पिटक एक वृहत संग्रह है और इसके अन्तर्गत पाँच निकाय हैं- दीघ निकाय, मज्झिम-निकाय, संयुत्त-निकाय, अंगुत्तर निकाय तथा खुद्दक-निकाय। इन निकायों में भारतीय इतिहास की अत्यन्त उपयोगी सामग्री उपलब्ध होती है। अपने प्रवचनों में बुद्ध ने ऐसे दृष्टांत दिये हैं जो तत्कालीन इतिहास की बहुमूल्य सामग्री हैं। प्रसंगवश उस समय की कई राजनैतिक घटनाओं के भी उल्लेख किये गए हैं। अतः सुत्त पिटक से तत्कालीन भारत की राजनैतिक तथा सांस्कृतिक जीवन संबंधी अनेक महत्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त होती है।

किसी भी युग के सांस्कृतिक जीवन के विवरण के लिए कथा-साहित्य के महत्व की उपेक्षा कहीं की जा सकती। कहानियाँ समाज का प्रतिबिम्ब होती हैं। इस दृष्टिकोण से बुद्ध-कालीन समाज का विवरण प्रस्तुत करने के लिए जातकों की बड़ी उपयोगिता है। खुद्दक-निकाय में समाविष्ट 547 कहानियों का संग्रह जातक है। जातक की कहानियाँ बुद्धकालीन समाज में प्रचलित थीं। बौद्ध भिक्षुओं ने इन्हें भगवान बुद्ध के पूर्व-जन्मों की घटनाओं से संबद्ध कर अपने उपदेशों को प्रचार-योग्य बना लिया। कुछ कहानियाँ उनकी अपनी कल्पना की उपज भी होंगी। ये कहानियाँ तत्कालीन समाज के विविध विषयों का प्रसंगवश उल्लेख देने के कारण इतिहासकार के लिए बहुमूल्य सामग्री प्रदान करती हैं।

जहाँ तक जातकों के रचनाकाल का प्रश्न है, बुद्धकालीन समाज का विवरण प्राप्त होने के कारण इन्हें इसी काल का मानना तर्कसंगत होता है। कई जातकों को भरहुत तथा साँची की वेदिकाओं तथा तोरणों में उत्कीर्ण किया गया है जिससे स्पष्ट होता है कि वे इन कलाकृतियों के निर्माण में पूर्व ही समाज में प्रचलित थे। रिचार्ड फिक, रीस डेविड्स तथा बुलर आदि प्राच्यविदों के मत में जातक तीसरी शताब्दी ई0 पूर्व के जन-जीवन को प्रतिबिम्बित करते हैं। यह तथ्य कदापि उपेक्षणीय नहीं है कि जातकों में तक्षशिला का उल्लेख एक ख्यातिप्राप्त विद्या-केन्द्र के रूप में मिलता है। यद्यपि नन्द तथा मौर्य शासकों के समय पाटलिपुत्र मगध साम्राज्य की राजधानी तक बन गया था, फिर भी उनका उल्लेख जातकों में पाटलिगाम मात्र के रूप में मिलता है। दूसरी ओर राजगृह का उल्लेख एक प्रमुखनगर के रूप में मिलता

है। इन जातकों में वैशाली का वैभव तथा मिथिला की गरिमा भी न्यून नहीं है। अत: इन कहानियों में उस युग का वर्णन है जब पाटलिपुत्र को एक प्रमुख नगर का गौरव प्राप्त नहीं हुआ था। बिंबसार, प्रसेनजीत तथा अजातशत्रु के उल्लेख हैं पर नन्दों तथा मौर्यों के नहीं। इस तरह जातकों में ऐसे कई प्रमाण है जिनकी बुद्धकालीन इतिहास के लिए उपयोगिता असंदिग्ध है। यह सत्य है कि कई कहानियाँ बुद्ध-पूर्व काल की हैं, परन्तु उनकी भी उपयोगिता में कमी नहीं आती है। पूर्व-प्रचलित कहानियों पर भी जब बौद्ध-मत का आवरण चढ़ाया गया तब उन्हें तत्कालीन सामाजिक मान्यताओं के उपयुक्त बनाया गया, जिससे वे बातें जो पुरानी पड़ गई थीं निकाल दी गई। जातकों के संबंध में जो भी विवाद हो, परन्तु इस बात को स्वीकार करने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि उनमें बुद्ध के जन्म के समय से लेकर प्रथम शताब्दी ई. पूर्व अथवा ई. सन् तक के समाज का विवरण उपलब्ध होता है।

बौद्ध पिटकों में मुख्यतया मध्यदेश अथवा मज्झिम देश के जन-जीवन का वर्णन मिलता है। मज्झिम देश का विस्तार पश्चिम में थाणेश्वर तक पूर्व में कजंगल (कंकजोल, संथाल परगना) तक दक्षिण में सललवती नदी एवं सुंसुमार गिरि तक तथा दक्षिण-पश्चिम में अवन्ती तक था। बुद्ध के जीवन-काल में इसी क्षेत्र के अन्तर्गत बौद्ध-मत का प्रचार हुआ। यद्यपि पालि-त्रिपिटक को उस समय अंतिम रूप प्रदान किया गया जब सुदूर दक्षिण को छोड़कर सम्पूर्ण भारत एक शासन के अन्तर्गत आ गया था, पर पिटकों में यह कहीं नहीं कहा गया है कि मज्झिम देश की सीमा के बाहर बौद्ध-मत

का प्रचार हुआ। इसका कारण यह है कि बुद्ध के उपदेशों को मज्झिम देश के भिक्षुओं ने सुरक्षित रखा था और उसमें वे कोई परिवर्तन नही करना चाहते थे। बौद्ध-मत का विशेष प्रसार अशोक के समय में हुआ और दूसरी शताब्दी ई0 पूर्व में दक्षिण-पश्चिम भारत में इसका व्यापक प्रसार हुआ। परन्तु पिटकों में इन ई0 पूर्व में दक्षिण-पश्चिम भारत में इसका व्यापक प्रसार करताहै कि मौर्य-काल के पूर्व बौद्ध-मत उत्तर भारत में ही सीमित रहा। जातक-कथाओं में प्रतिष्ठान, सुप्पारक (सेपारा), भरुकच्छ (भड़ौच) आदि व्यापारिक नगरों के उल्लेख है। ये वे व्यापार केन्द्र थे, जहाँ उत्तर भारत के सार्थवाह जाते थे, अत: इन स्थानों से उत्तर भारत के लोग परिचित हो गए थे और इन स्थानों के यात्रा संबंधी अनेक कथाएँ गढ़ ली गई थी। जो जातक अथवा जो थोड़े अंश पिटकों में पीछे जोड़े गए होंगे उनमें दक्षिण-पश्चिम भारत के कुछ रीति-रिवाजों के उल्लेख आ गए होंगे। परन्तु कही भी यह नही कहा गया कि बुद्ध ने पश्चिम-भारत में जाकर अजन्ता, भाजा या किसी अन्य चैत्य में प्रवचन दिया। इसमें यह प्रमाणित होता है कि बुद्ध के जीवन की घटनाओं में कही तोड़-मरोड़ नही की गई है।

बौद्ध-संगीतियाँ

बौद्ध-ग्रंथों में बुद्ध-परिनिर्वाण के ढ़ाई शताब्दियों के अन्दर ही तीन बौद्ध-संगितियों के वर्णन मिलते है। प्रथम संगिति बुद्ध-निर्वाण के शीघ्र पश्चात् अजातशत्रु के राज्यकाल में राजगृह में हुई, और दूसरी का आयोजन उसके एक शताब्दी बाद कालाशोक के राज्यकाल में वैशाली में हुआ।

पालि-सुत्रों के अनुसार बुद्ध-निर्वाण के शीघ्र पश्चात् राजगृह में प्रमुख बौद्ध-भिक्षुओं की एक सभा महाकस्सप के सभापतित्व में आयोजित की गयी जिसमें धर्म और विनय के नियमों का संग्रह किया गया। इस संग्रह को थेरवाद, अर्थात् थेरों का मत अथवा बौद्ध-धर्म के मूल सिद्धान्तों की संज्ञा दी गयी। इस संगीति में भाग लेने वाले प्रमुख भिक्षु थे- आनन्द, उपालि, अनिरूद्ध आदि, जो बौद्धमत के विभिन्न विषयों प्रामाणिक ज्ञात माने जाते थे।

बुद्ध-परिनिर्वाण के एक शताब्दी पश्चात् कालाशोक, शैशुनाग के शासनकाल में बौद्ध-भिक्षुओं की द्वितीय संगीति वैशाली में हुई। बौद्ध-परम्परानुसार भगवान् के परिनिर्वाण के अनन्तर सौ वर्षों तक तो बौद्ध-धर्म का मूलरूप अपरिवर्तित रहा, परन्तु वैशाली के भिक्षुओं के कारण एक बड़ा संघ-भेद हुआ। चुल्लवाग तथा दीपवंश के अनुसार वैशाली में बारह हजार भिक्षुओं ने एकमत होकर घोषित किया कि थेरवाद के दस-निषेधों का उल्लंघन धर्म-संगत हैं। इस प्रकार के नियम विरूद्ध आचरण करने की प्रवृत्ति के निवारण हेतु वैशाली के कुटागारशाला में बड़ी संख्या में एकत्र होकर भिक्षुओं के नियम-भंग करने वाले वज्जिपुत्र भिक्षुओं को संघ से वहिष्कृत कर दिया। इस पर वहिष्कृत भिक्षुओं ने एक संगीति का आयोजन कर अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। इस संगीति के पश्चात् बौद्ध-संघ में भेद बढ़ता गया और भविष्य के नये मतों का प्रादुर्भाव हुआ। भेद की इस प्रवृत्ति का अन्त करने के लिए अशोक ने कड़े कदम उठाये। उन्होंने अपने राज्यकाल में पाटलिपुत्र में बौद्धों की तृतीय संगीति का आयोजन किया। संघ-भेद को समाप्त करने के उद्देश्य से उन्होंने अपने धर्मलेख के माध्यम से यह राजाज्ञा प्रसारित की कि

भिक्षु अथवा भिक्षुणी जिसे संघ-भेद का दोषी पाया जायगा उसे संघ से निष्कासित कर दिया जायगा।

बुद्ध का कार्यक्षेत्र-

बौद्ध-धर्म का प्रमुख गढ़ बना- बिहार, जहाँ से इस धर्म का प्रसार देश के विभिन्न भागों में हुआ। बिहार के अतिरिक्त उत्तर प्रदेश के पूर्वी भू-भाग में इसका विशेष प्रचार हुआ। पालि-पिटक के अनुसार भगवान् बुद्ध का कार्य-क्षेत्र मज्झिम देश में सीमित रहा। अतः मज्झिम देश के सीमा निर्धारण से तथा भगवान् बुद्ध की पदयात्रा के विवरण के आधार पर बौद्ध-धर्म के प्रचार-क्षेत्र का सही अनुमान लगाना संभव है। पूर्व दिशा में कजंगल (वर्तमान कंकजोल, जिला संथाल परगना) तक बुद्ध के जाने का उल्लेख मिलता है, अतः यही मज्झिम देश की पूर्वी सीमा होगी। भगवान् बुद्ध दक्षिण में हजारीबाग जिले की सललवती नदी के पार नहीं गये। दक्षिण पूर्व में वे सुंसुमारगिरि, कौशाम्बी तथा अवन्ती गये। महावग्ग के अनुसार अवन्ति में बौद्धमतावलंबियों की संख्या न्यून थी। पश्चिम दिशा में बुद्ध मज्झिम-निकाय के अनुसार थुल्लकोट्ठि (कुरु राज्य में) तक गये थे, पर अंगुत्तर-निकाय में मथुरा तक ही उनके जाने का उल्लेख मिलता है। महावग्ग के अनुसार ब्राह्मणग्राम थूण (थानेश्वर) मज्झिम देश की पश्चिमी सीमा था। मज्झिम देश के उत्तरी सीमान्त में उसीरध्वज नामक पर्वत था जो हरिद्वार के निकट है। अतः पश्चिम तथा उत्तर दिशाओं में बौद्ध धर्म का प्रसार वर्तमान उत्तर प्रदेश की सीमा के

पार नहीं हुआ। भगवान् बुद्ध के जीवन के पचीस वर्ष श्रावस्ती में व्यतीत हुए। पालि-निकाय में उनके धर्मोपदेश तथा पदयात्राओं से संबद्ध जिन स्थानों के उल्लेख मिलते हैं, उनमें अधिकतर पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा बिहार में पड़ते हैं, अतः यही भू-भाग बौद्ध-धर्म का गढ़ था जहाँ से उसका प्रसार मध्य प्रदेश में उज्जैनी तक हुआ।

अध्याय–तीन
गौतम बुद्ध के शिक्षा दर्शन

दर्शन को परिभाषित करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। जहाँ एक ओर दर्शन आत्मा, परमात्मा, जगत् जैसे गम्भीर विषयों पर चिन्तन करता है वहीं दूसरी ओर इसकी परिभाषा करना तथा तात्पर्य समझना स्वयं एक गम्भीर समस्या है। जहाँ तक इसके शाब्दिक अर्थ का प्रश्न है, शब्द ''दर्शन'' संस्कृत भाषा की ''दुशय (देखना) धातु में ''ल्युद'' प्रत्यय युक्त करने से बनता है जिसकी व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है-

''दृश्यते अनेन इति दर्शनम्'' अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाय?

उपनिषदों में सत्य का दर्शन करने के लिए कहा गया है और वहां पर ''दृश्'' धातु का ही प्रयोग किया गया है। जो ज्ञान आँख से देखकर प्राप्त किया जाता है, वह अधिक विश्वसनीय नहीं होता है।[1] पुनश्च, ''दर्शन'' शब्द की अंग्रेजी रूपांतर है ''फिलॉसोफी'' शब्द। यूनानी भाषा का यह शब्द दो शब्दों से युक्त है- ''फिलॉस'' तथा ''सौफिया''। फिलॉस का अर्थ है प्रेम या अनुराग और ''सौफिया'' का अर्थ है विद्या या ज्ञान। इस प्रकार ''फिलॉसोफी'' का अर्थ हुआ ''विद्यानुराग'' या ''ज्ञान प्रेम''।[2] साधारणतः दर्शन को ही फिलॉसोफी कह बैठते हैं, वस्तुतः इन दोनों में पर्याप्त भिन्नता है। फिलासफी में वह अर्थ गौरव कहाँ, जो दर्शन में है। दर्शन में विद्या या ज्ञान का केवल अनुराग नहीं है, क्योंकि अनुराग तो केवल भावात्मक प्रत्यय है। ''दर्शन शब्द में मानसिक प्रक्रिया के तीनों पक्ष-ज्ञान, कर्म और भाव- निहित हैं। सत्य का साक्षात्-दर्शन करना ''दर्शन'' है। जब सत्य का ज्ञान प्राप्त करना होगा तो सत्यान्वेषण भी होगा। इस प्रकार ज्ञान और क्रिया साथ-साथ चलेंगे।

जब हम प्रयत्न करके सत्य का साक्षात्-"दर्शन" करेंगे तो सत्य और ज्ञान से प्रेम भी अवश्य होगा अत: विद्यानुराग भी अपेक्षित नहीं होगा। पश्चिम का फिलॉसफर बिना किसी लक्ष्य को निश्चित किये हुए विचार करना प्रारम्भ कर देता है, किन्तु भारतीय दार्शनिक जब चिन्तन करता है तो उसका स्पष्ट लक्ष्य होता है।

"दर्शन" की अनेक प्रकार से परिभाषा की गयी है। पश्चिमी तथा भारतीय विद्वानों ने पृथक-पृथक रूप से इसे परिभाषित करने का प्रयत्न किया है[3]-

1. **प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो के अनुसार,** "इस परिवर्तनशील जगत् के परे अपरिवर्तनशील, अलौकिक तथा शाश्वत तत्व विद्यमान है। उसका ज्ञान ही पदार्थो के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान है। अत: उस यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना ही दर्शन है।"

2. दर्शन ऐसा विज्ञान है जो परमतत्व के यथार्थ स्वरूप की जाँच करता है। इस प्रकार अरस्तू भी अपने गुरु की बातों का समर्थन करता है। अन्तर केवल इतना है कि प्लेटो ने केवल प्रत्यय पर बल दिया था जबकि अरस्तु ने प्रत्यय को व्यावहारिक बनाने का कार्य भी दर्शन को सौंप दिया है।"

3. हेगेल के अनुसार, "दर्शन शास्त्र यथार्थ का तत्व दर्शन है।" हेगेल यह भी मानता है कि शाश्वत एवं चिरन्तन तत्व का ज्ञान प्राप्त करना दर्शन का मूल-प्रयोजन है।

4. ब्रैडले के अनुसार ''दृश्य जगत् की अपेक्षा यथार्थ के ज्ञान का प्रयत्न करना दर्शन है।''

5. प्रसिद्ध तत्ववेत्ता काण्ट का मत है कि ''दर्शनशास्त्र बोध क्रिया का विज्ञान एवं उसकी आलोचना है।''

6. फिक्टे, ''दर्शन शास्त्र को ज्ञान का विज्ञान मानता है।''

7. पाल्सन महोदय ''समस्त वैज्ञानिक ज्ञान के योग को दर्शनशास्त्र कहते हैं।''

8. ''दर्शनशास्त्र विज्ञानों का समन्वय या विश्व व्यापक ज्ञान है।'' इस प्रकार का विचार हरबर्ट स्पेन्सर ने व्यक्त किया है।

9. ''विज्ञान के मूलभूत सिद्धान्तों का तार्किक अध्ययन दर्शन शास्त्र है।'' इस आशय का विचार आधुनिक युग के प्रसिद्ध दार्शनिक बर्ट्रेण्ड रसल ने व्यक्त किया है।

10. प्रसिद्ध समाज शास्त्री एवं दार्शनिक कॉम्टे का मत है कि ''दर्शन शास्त्र विज्ञानों का विज्ञान है।''

11. ''दर्शन शास्त्र प्रकृति के व्यापक स्वरूप का अन्वेषण है, वस्तुओं के स्वरूप के व्यापक स्पष्टीकरण का प्रयास है।'' इस प्रकार मत वेबर अल्फ्रेड ने व्यक्त किया है।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न विद्वानों ने दर्शनशास्त्र की भिन्न-भिन्न परिभाषायें अपने-अपने दृष्टिकोण से की है। कतिपय विद्वान दर्शनशास्त्र को

अलौकिक तथा चिरन्तन ज्ञान तक ही सीमित करते हैं। ये व्यक्ति इस जगत् को सत्याभास या अयथार्थ मानते रहे। प्लेटो, हेगेल तथा ब्रेडले के विचार इसी प्रकार के हैं। अरस्तू भी कुछ सीमा तक यह मानता है। काण्ट एवं फिक्टे ने तो दर्शनशास्त्र को केवल ज्ञानशास्त्र के रूप में देखा है। इन विद्वानों ने सत्ता के सम्बन्ध में ईश्वर, आत्मा आदि के सम्बन्ध में विचार करने के पूर्व यह ज्ञान लेने पर बल दिया कि मानव ज्ञान की पहुँच कहाँ तक है। ज्ञान एवं अज्ञान में अन्तर ज्ञात करना तथा ज्ञान के लिए प्रमाणों का विवेचन करना- दर्शन के कार्य-क्षेत्र के अन्तर्गत है, किन्तु दर्शन केवल ज्ञान शास्त्र नहीं है। कॉमटे, हरबर्ट स्पेन्सर, पाल्सन, रसल आदि विद्वानों ने दर्शन और विज्ञान के सम्बन्ध पर विशेष रूप से ध्यान दिया और इस सम्बन्ध के विश्लेषण को दर्शन का प्रमुख-विषय माना। दर्शन और विज्ञान में सम्बन्ध तो है, किन्तु दर्शन मूल्यों को अपना विषय बनाकर विज्ञान से आगे चला जाता है। हेण्डरसन तथा वेबर अल्फ्रेड ने व्यक्ति एवं सृष्टि के के सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त करने पर दिया है। इस प्रकार समस्त परिभाषायें एकांगी ही प्रतीत होती हैं।

भारतीय दार्शनिक दर्शन के एकांगी दृष्टिकोण से सहमत नहीं होते। ये दर्शन को अत्यधिक व्यापक मानते हैं। उनके अनुसार दर्शन केवल पुस्तकीय विद्या नहीं है, वरन् गहन चिन्तन का परिणाम हैं विश्व विख्यात दार्शनिक डॉक्टर राधाकृष्णन् के अनुसार ''दर्शनशास्त्र यथार्थ के स्वरूप का तार्किक विवेचन है।'' डाक्टर साहब की परिभाषा अत्यन्त संक्षिप्त किन्तु अत्यधिक सार्थक एवं तार्किक है। सतीश चन्द्र चट्टोपाध्याय एवं वीरेन्द्र मोहन दत्त ने दर्शन की परिभाषा करते हुए लिखा है कि ''युक्तिपूर्वक तत्वज्ञान प्राप्त

करने को ही दर्शन कहते है।''[14] ''दर्शन'' शब्द की व्यवस्था करते हुए डॉ0 उमेश मिश्र ''प्रत्यक्ष'' दर्शन पर अर्थात् आँख से देखने पर विशेष बल देते हैं। इस सम्बन्ध में वे लिखते है कि ''कुछ लोगों का कहना है कि प्राकृतिक या बौद्धिक या आध्यात्मिक जगत् के बहुत से तत्व अत्यन्त सूक्ष्म हैं। उन्हें चक्षु के द्वारा देखना असम्भव है। इसलिए ''दर्शन'' शब्द का ''ज्ञान'' प्राप्त किया जाय- यही अर्थ करना उचित है। प्रगतिवादी का कहना कुछ अंश में तो सत्य है परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के पदार्थ दर्शन शास्त्र के विषय हैं और परमतत्व की प्राप्ति के लिए दोनों का साक्षात्कार आवश्यक है। इसलिए चार्वाक, न्याय, वैशेषिक आदि स्थूल दृष्टि वाले दर्शनों में स्थूल पदार्थो के तथा सांख्य, योग, वेदान्त आदि सूक्ष्म दृष्टि वाले दर्शनों में सूक्ष्म पदार्थो के देखने के लिए उपाय कहे गये हैं। किन्तु यहाँ यह कह देना उचित होगा कि सूक्ष्म पदार्थो को देखने के लिए प्रत्येक मनुष्य में एक विशेष चक्षु होता है, जिसे साधारणतया ''प्रज्ञाचक्षु'' या ''ज्ञानचक्षु'' कहते हैं। गीता में भी विश्व रूप को देखने के लिए भगवान ने अर्जुन को ''दिव्यचक्षु'' ही दिया था। बहुत ही तपस्या करने पर या भगवान् के अनुग्रह से इसका उन्मीलन होता है और जब एक बार यह चक्षु खुल जाता है तो फिर उस व्यक्ति को इस चक्षु के द्वारा सभी सूक्ष्म पदार्थ हथेली पर आँवले की तरह प्रत्यक्ष दिख पड़ते हैं। ''दर्शन'' के लिए हमें दोनों प्रकार के चक्षुओं की अपेक्षा होती है। स्थूल तत्वों को स्थूल नेत्र से तथा सूक्ष्म तत्वों को सूक्ष्म नेत्र से हम देखते है। यही कारण है कि उपनिषदों ने ''दृश्'' धातु का प्रयोग किया है, और यही भाव भारतीय दर्शन के ''दर्शन'' शब्द में भी है। बिना

चाक्षुष प्रत्यक्ष के किसी भी तत्व का ज्ञान निश्चित रूप से नहीं हो सकता है।"[6] तत्व का साक्षात्कार ही दर्शन है। इसी को "सम्यक् दर्शन" भी कहा गया है। मनु ने कहा है-

सम्यक् दर्शन सम्पन्नां कर्मभिर्न निबद्धयते।

दर्शनेन् विहिनस्तु संसार प्रतिपद्यते।।

अर्थात् "सम्यक् दर्शन" प्राप्त कर लेने पर मनुष्य कर्म के बन्धन में नहीं पड़ता। इस सम्यक् दर्शन से विहीन पुरुष ही संसार के बन्धन में पड़ जाते हैं।

व्यापक अध्ययन की दृष्टि से दर्शन के तीन विभाग किये गये है-

1. तत्वज्ञान
2. ज्ञानशास्त्र
3. मूल्यशास्त्र

तत्वज्ञान के अन्तर्गत आत्मा सम्बन्धी तत्व ज्ञान, ईश्वर सम्बन्धी तत्वज्ञान, सृष्टिशास्त्र, सृष्टि विज्ञान तथा सत्ता-विज्ञान का अध्ययन किया जाता है।

ज्ञानशास्त्र दर्शनशास्त्र का एक महत्वपूर्ण विभाग है। कुछ दार्शनिकों ने तो ज्ञानशास्त्र को ही दर्शनशास्त्र मान लिया है। ज्ञानशास्त्र में ज्ञान का विवेचन किया जाता है।

मूल्यशास्त्र के अन्तर्गत नीतिशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र, तर्कशास्त्र आदि का अध्ययन किया जाता है जो व्यक्ति के जीवन के मूल्यों, आदर्शों एवं लक्ष्यों पर विचार करते है।

भारतीय दर्शन के दृष्टि बड़ी सूक्ष्म और व्यापक है। इसकी अनेक शाखायें हैं, किन्तु प्रत्येक शाखा एक-दूसरे से सम्बद्ध है और प्रत्येक दार्शनिक शाखा में अन्य शाखाओं के प्रति सम्मान प्रकट किया गया है और बड़ी ही उच्चकोटि की तार्किक भूमि में आलोचना प्रस्तुत की गयी है। इस प्रकार प्रत्येक शाखा अपने आप में पूर्ण दर्शन बन जाती है। अतः भारत में अब तक कुल नौ (न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त, चार्वाक, जैन तथा बौद्ध) दर्शन का विकास हुआ है। इसमें प्रथम छः, जिन्हें ''षडदर्शन'' कहते हैं, वेदों में विश्वास करते हैं तथा अंतिम तीन वेदों का खण्डन करते हैं। इस प्रकार भारत में जो चिन्तन हुआ वह या तो वेदों के समर्थन के लिए था या फिर उनके खण्डन के लिए। जो भी हो, किन्तु इतना निश्चित है कि चिन्तन के केन्द्र बिन्दु वेद ही बने रहे। इस दृष्टि से वेदों का महत्व और भी बढ़ जाता है।

महात्मा गौतम बुद्ध के उपदेशों से बौद्ध-दर्शन का जन्म हुआ। जरा, रोग तथा मृत्यु को देखकर सिद्धार्थ अत्यन्त पीड़ित हुए थे और उन्होंने दुःखों से छुटकारा पाने का उपाय ढूढ़ने में ही वर्षो तक तपस्या की। अंततः उन्होंने ज्ञान-प्राप्त किया। बुद्ध के ज्ञान का सार आर्य सत्यों में है। बुद्ध ने बताया कि जगत् के सभी प्राणियों में एवं सभी दशाओं में दुःख वर्तमान है, और इस दुःख का कारण है। क्योंकि कोई भी भौतिक आध्यात्मिक वस्तु

अकारण नहीं है। संसार की सभी वस्तुयें परिवर्तनशील हैं। मरण का कारण जन्म है, जन्म का कारण तृष्णा है और तृष्णा का कारण अज्ञान है। दु:खों के कारण यदि नष्ट हो जाय तो दु:ख का भी अन्त हो जायेगा। चौथा सत्य "दु:ख निवृत्ति" के उपाय के रूप में ही है। चौथे सत्य के अन्तर्गत बुद्ध ने आठ मार्ग बताये हैं जिनके अनुपालन से समस्त दुखों से छुटकारा मिल जाता है।

4.1 बौद्ध-दर्शन की तत्वमीमांसा

महात्मा बुद्ध का महाभिनिष्क्रमण सांसारिक दु:खों एवं कष्टों का परिणाम था। उनके हृदय में संसार के तथा तत्कालीन परिस्थितियों के प्रति क्षोभ एवं घृणा की भावना उत्पन्न हो गयी थी। उन्होंने अपने ज्ञान के आधार पर यह अनुभव किया कि इस सबका कारण सांसारिक सुख व शान्ति की तृष्णा है और इसी तृष्णा की पूर्ति के कारण मनुष्य मरण, जन्म और कर्म के चक्कर में सदा फँसा रहता है। अत: उनकी ऐसी धारणा बन गयी कि जब तक मनुष्य अपना ध्यान उनसे हटाने की ओर प्रयत्नशील नहीं होगा तब तक वह मुक्ति पाने में सफल नहीं हो सकता। बुद्ध ने इस ओर विशेष ध्यान दिया। अत: उनके समस्त उपदेश एवं शिक्षायें पूर्णतया व्यावहारिक थी। वे उन विषयों की विवेचना करने में शान्त रहते थे जिनका मानव जीवन से निकट सम्बन्ध नहीं था। किन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि उन्होंने दार्शनिक विषयों पर प्रकाश नहीं डाला। वस्तुत: उनके उपदेशों, शिक्षाओं, वार्तालाप, भाषणों आदि में दार्शनिक विचारों का पर्याप्त समन्वय विद्यमान था और उनके

द्वारा उनके विचारों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाता है। महात्मा बुद्ध के उपदेशों एवं शिक्षा का आधार आचार था। उन्होंने आचार पर विशेष महत्व दिया। यदि यह कहा जाय कि बुद्ध की सम्पूर्ण देशना एक नैतिक आचार-संहिता थी, तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

बौद्ध सिद्धान्त तथा व्यवहार की तुलना रोग विज्ञान तथा औषधि विज्ञान से की जा सकती है। ''ललित विस्तर'' में बुद्ध को आध्यात्मिक चिकित्सक कहा भी गया है। जिस प्रकार एक चिकित्सक औषधि देने से पहले रोग विज्ञान की सहायता से रोग का स्वरूप तथा कारण जान लेता है, उसी प्रकार बुद्ध मुक्ति मार्ग दिखाने से (या संसार नामक रोग का निदान करने) पहले सिद्धान्तों के रूप में रोग का कारण स्पष्ट कर देते हैं। पूरे बौद्ध चिन्तन का केन्द्र संसार से मुक्ति है। ''चुल्लवग्ग'' में कहा गया है-

''जिस प्रकार विशाल सागर में एक ही स्वाद होता है; नमक का स्वाद, उसी प्रकार भिक्षुओं! ''धम्म'' में भी एक ही ''स्वाद'' व्याप्त है; मुक्ति का स्वाद।''

इस प्रकार बौद्ध-दर्शन में सिद्धान्त और व्यवहार का अनूठा संगम है। किन्तु फिर भी कतिपय विद्वान यह आरोपित करते हैं कि ''बुद्ध देशना'' में तत्व-ज्ञान का अभाव है। इस संदर्भ में दो मतान्त है। एक मतान्त के अनुसार बुद्ध ने एक नवीन दर्शन शास्त्र (मेटा फिजिकलसिस्टम) का प्रतिपादन किया, दूसरे के अनुसार बुद्ध ने दार्शनिक तत्वों का शास्त्रीय निरूपण न कर केवल दु:ख निवृत्ति के लिए आचरणीय मार्ग का उपदेश किया। वास्तविकता

तो यह है कि बुद्ध शुष्क दार्शनिक नहीं थे। वे इस पक्ष में नहीं थे कि ऐसी दार्शनिक समस्याओं पर विचार किया जाय जिनका व्यवहार में कोई उपयोग न हो। लोक शाश्वत है या अशाश्वत, अन्तवान् है या अनन्त, जीव व शरीर एक है या भिन्न, तथागत मृत्यु के पश्चात् रहते हैं या नहीं, क्या पुनर्जन्म का होना निश्चित है या अनिश्चित? क्या पुनर्जन्म होने या न होने की बात असत्य है? आदि ऐसे प्रश्न है जिन्हें बुद्ध ने अव्यक्तानि स्थापित किया था। गौतम बुद्ध ने इन प्रश्नों का उत्तर न देकर इन्हें विवाद का विषय बताया क्योंकि इनका सम्बन्ध अप्रत्यक्ष तत्वों से है जिनके विषय में कोई निश्चित मत नहीं व्यक्त किया जा सकता। उन्होंने व्यावहारिक जीवन से दुःख का समूल नाश करना ही अपने दर्शन का ध्येय रखा। मालुक्य पुत्र के संशय निवारण के प्रसंग में कहा गया है कि जैसे-

"विष-दग्ध शर से बिद्ध पुरुष की चिकित्सा के लिए उसे घायल करने वाले धानुष्क और धनु की खोज अप्रासंगिक है वैसे ही जन्म-मरण से पर्याकुल संसारियों की आर्ति के उपशम के लिए ब्रह्मचर्यावाश इन दार्शनिक समस्याओं के सुलझाव की अपेक्षा नहीं रखता।"[6]

वत्सगोत्र परिब्राजक से बुद्ध कहते हैं कि लोक को शाश्वत अथवा अशाश्वत मानना एवं इतर अव्याकृत प्रश्नों पर अन्यतर पक्ष का समर्थन दृष्टि संयोजन से बान्धना है। तथागत सब दृष्टियों से मुक्त है-

"अत्थि पन भी तो गोतमस्य किंचि दिट्ठिगंत ति? दिट्ठिगतं ति खोवच्छ अपनीतं तथा गस्स।"[7]

प्रोष्ठपाद के पूछने पर कि ''भगवान् ने इसे अव्याकृत क्यों रखा है? उन्होंने उत्तर दिया था-

''प्रोष्ठपाद, यह न अर्थ युक्त है, न धर्म युक्त, न ब्रह्मचर्योपयोगी, न निर्वेट के लिए, न विराग के लिए, न विरोध के लिए, न उपक्षम के लिए, न सम्बोधि के लिए और न निर्वाण के लिए है। इसलिए मैंने उसे व्याकृत नहीं किया है।''[8]

बुद्ध ऐसे आध्यात्मिक ज्ञान का उपदेश करना चाहते थे जिससे वासना का क्षय हो। वे अपने उपदेशों में सार्वभौम आध्यात्मिक सत्य का समर्थन मात्र किये हैं उसकी व्याख्या नहीं की है। वे जटिल दार्शनिक समस्याओं के सूक्ष्म विवेचन में विश्वास नहीं करते थे। वस्तुतः वे तत्वदर्शी थे, तत्व व्याख्याता नहीं।

इसके विपरीत कुछ विद्वान बुद्ध को केवल एक प्रकार के शील अथवा नैतिक आचार का प्रचारक अवधारित करते हैं। प्रश्न उठता है कि यदि बुद्ध ने तत्व-ज्ञान के उपदेश की उपेक्षा की तो आखिर क्यों? एक उत्तर यह दिया गया है कि संभवतः बुद्ध ने स्वयं पारमार्थिक तत्व का निश्चित ज्ञान प्राप्त न किया हो और अज्ञान-जन्य संशय की अवस्था में मौन को ही श्रेष्ठ समझा हो। कुछ विद्वानों ने तत्व की अज्ञेयता अनुपयोगिता को ही ''मौन'' का कारण बताया है। अनेक संदर्भो से स्पष्ट है कि बुद्ध अपने को तत्वभिज्ञ मानते थे और स्वयं उपलब्ध तत्व तक औरों को पहुँचाना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने जिस ज्ञान को अर्जित किया था, उसका उपदेश भी किया था। तत्व-ज्ञान की

अनुपयोगिता का अभ्युगम तो सर्व-तत्व विरूद्ध है। यदि परमार्थ-तत्व अज्ञेय है तो बुद्ध अथवा सम्बोधि अर्थ हीन हो जाते है। शुष्क तार्किक ज्ञान की अनुपयोगिता अवश्य ही अनेक साधन मार्गों मे स्वीकृत होती है, और बुद्ध का अनेक दार्शनिक समस्याओ को अव्याकृत स्थापित करना ऐसी दृष्टि मे उनकी आंशिक सहमति सूचित करता है। किन्तु इससे यह अनुमेय नही है कि बुद्ध ने परमार्थ का निर्देश न कर केवल एक प्रकार की चर्चा का उपदेश किया है।[9]

वस्तुत: बुद्ध ने मार्ग और गन्तव्य दोनों का निरूपण किया, किन्तु यथा सम्भव। वे न शुष्क तर्कवादी थे कि परमार्थ को लक्षण प्रमाणावत्व में परिछिन्न करने का प्रयास करते, न ज्ञान-रहित व्यवहारवादी कि सुपरिष्कृत समीचीन दृष्टि को समस्त साधना का मूल्य न मानते। वे जानते थे कि परमार्थ तर्क और अतएव वाणी का अगोचर है। किन्तु इस अगोचरता का अर्थ विशेषत: "अनावधारणीयता" मानना चाहिए, न कि सर्वथा "अविषयता'। बुद्धि और वाक् की सर्वथा अविषयता अर्थात् सर्वथा अबोध्यता तथा अनाभिधेयता कल्पनातीत और स्वयं अबोध्य तथा अनाभिधेय है।[10] परमार्थ की अतर्कयता और अवाच्यता का अभिधान स्वयं एक महत्वपूर्ण सूचना देता है। "गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं" की उक्ति बुद्ध के मौन पर चरितार्थ होती है जो कि सीमित जगत् के अन्तर्गत परस्पर विरोधों और व्यावृत्तियों को परम समझने वाले तर्क और वाक् की अपर्याप्तता और परमार्थ की अनन्तता के निर्देश में पर्यवसित होती है। जिस प्रकार उपनिषदों में अवाङ्. मनसगोचर सत्य को जसलाने के लिए अतदव्यावृत्ति रूप अपोह और उपमान का सहारा लिया गया है वैसे ही बुद्ध देशना में पाया जाता है। यों तो प्रत्येक अभिधान में अपोह का व्यवहार

सन्निहित है, किन्तु परमार्थ के निर्देश में वस्तुतः ''अपोह का अपोह'' होता है और इस प्रकार परामर्थ कि भावाभाव-विलक्षणता घोषित होती है। यही बुद्धोपदिष्ट ''मध्यमना प्रतिपद'' अथवा प्रतीत्य-समुत्पाद का वास्तविक अर्थ है।[11] परिच्छेद-कुण्डलित प्रपंच के उपशम के रूप में ही परिच्छेद रहित परमार्थ की देशना सम्भव है और प्रपंचोपशम ही ''निर्वाण'' है। सम्बोधित में अधिगत धर्म को इन्हीं दो शब्दों से सूचित किया गया है- प्रतीत्य-समुत्पाद और निर्वाण। यह धर्म का पारमार्थिक रूप है, पर इसकी प्राप्ति के लिए अनित्य, व्यावहारिक-सांक्लेशिंक अथवा वैयवदानिक धर्मो का विवेकपूर्वक आसंसार हान अथवा उपादान अपेक्षित है और इसलिए इनका भी देशना में स्थान है। बुद्ध के मौन और उनकी देशना-विधि का यही रहस्य है।[12] अतः बुद्ध-देशना न केवल कोरी दार्शनिक मीमांसा थी, न कोरी साधनचर्या अपितु यथाकथचित व्यवहार न सहारे परमार्थ की ओर संकेत था।

आर्य सत्य-

बुद्ध स्वयं संसार से विरक्त होकर शान्ति की खोज में घर से निकले थे और सम्बोधि के अनन्तर शोकावतीर्ण जनता के अवलोकन से करूणाद्रि होकर उन्होंने सम्बोधि में अधिगत धर्म की देशना का भार अपनाया था। संसार के तट से निर्वाण के तट तक ले जाने वाला उनका धर्म करूणा का एक सेतु था। जीवन के अपरिहार्य दुःख के दर्शन से उनके धर्म का प्रारम्भ होता है। दुःख की प्रवृत्ति समझ कर उसकी निवृत्ति के लिए प्रयत्न ही धर्मचर्या है, जो कि सम्बोधि में वरमता को प्राप्त होती है। बुद्ध देशना का

विस्तृत अध्ययन निम्नलिखित चार शीर्षकों के अन्तर्गत किया जाता है जिन्हें आर्य सत्य कहा जाता है-

1. दु:ख
2. दु:ख-समुदाय
3. दु:ख निरोध
4. दु:ख निरोध-मार्ग

इन चार सत्यों का स्वयं शास्ता ने उपदेश किया था। विनय और निकायों में पहले सत्य के अन्दर दु:ख को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया गया है। दूसरे सत्य में प्रतीत्य समुत्पाद का उल्लेख किया गया है। तीसरे सत्य में निर्वाण का और चौथे सत्य में अष्टांग मार्ग का।

दु:ख -

पहला आर्य सत्य है दु:ख की निरंकुशता। बुद्ध कहते है कि सम्पूर्ण जीवन में दु:ख छाया हुआ है। यह सर्वव्यापी है-

''जीवन दु:खदायी है, क्षीणता दु:खदायी है, रोग दु:खदायी है, मृत्यु दु:खदायी है, अप्रिय के साथ संयोग दु:खदायी है, प्रिय का वियोग दु:खदायी है और वियोग कट आकांक्षा जिसकी पूर्ति न हो सके वह भी दु:खदायी है। संक्षेप में पांचों ही समष्टि रूप में (शरीर, मनोवेग, प्रत्यक्ष ज्ञान, इच्छा और तर्क), जो आसक्ति से उत्पन्न होते है, दु:खदायी है।''[13]

बुद्ध ने दु:ख तत्व पर अत्यधिक बल दिया है। किन्तु इसके पूर्व उपनिषदों में भी ''विषाद'' का उल्लेख हुआ है। हाँ! इतना अवश्य कहा जा

सकता है कि जहाँ उपनिषदों में ''विषाद'' का चर्चामात्र है, वहीं बौद्ध दर्शन में दुःख ने मुख्य स्थान प्राप्त कर लिया है। उपनिषद् तो क्या सम्पूर्ण मानव चिन्तन के इतिहास में कहीं भी मानव जीवन के दुःख का इतने कृष्ण रूप में, इतनी गहन भावना तथा इतने विस्तार से वर्णन नहीं मिलता है जितना कि बुद्ध ने किया है। वास्तव में इस संसार से छुटकारा पाने के लिए जनसाधारण की इच्छा को जागृत करने के लिए उन्होंने संसार के कृष्ण पक्ष को कुछ अधिक बढ़ा-चढ़ाकर जनता के समक्ष रखा। भले ही हम आराम और सुख के विस्तार के लिए एवं सब प्रकार के सामाजिक अन्याय को दबाने के लिए अपनी शक्ति के अनुसार पूरा प्रयत्न क्यों न कर लें तो भी मनुष्य को संतोष नहीं होगा। बुद्ध के अनुसार-

''प्राणियों की संसार रूपी महायात्रा अनादिकाल से चल रही है। ऐसे किसी उद्‌गम स्थल का पता नहीं है, जहाँ से चलकर प्राणी अज्ञान की भूल भूलैया में फंसकर और अपने अस्तित्व की तृष्णा में बन्धनों में बंधकर इधर-उधर भटकते फिरते हैं। हे भिक्षुओं, बताओ कि चार महासागरों में जो जल है वह अधिक है या तुम्हारे उन आँसुओं का जल अधिक है जिन्हें तुमने अपनी इस दीर्घयात्रा में इधर-उधर भटकते हुए बहाये हैं, और इसलिए बहाये है कि तुम्हें हिस्से में जो मिला है उससे तुम्हें घृणा है और जो तुम्हें प्रिय है वह तुम्हारे हिस्से में नहीं आया? माता की मृत्यु, भाई की मृत्यु, सम्बन्धों की हानि, सम्पदा की हानि, इन सबका तुम युगों से अनुभव करते आ रहे हो, और जब युगों से तुमने इनका अनुभव किया है तो और भी आंसू तुमने बहाये है। इस महायात्रा में इधर-उधर भटकते हुए, कष्ट सहन करते हुए रोते हुए

तुमने जो आंसू बहाये हैं, और इसलिए बहाये है कि जो तुम्हें हिस्से में मिला है उससे तुम्हें घृणा है और जो तुम्हें प्रिय है वह तुम्हारे हिस्से में नहीं आया, तुम्हारे ये आँसू चारों महासागरों के जल से अधिक हैं।''[14]

बुद्ध अन्त में कहते है कि मनुष्य जन्म दुःख है, अपने व्यक्तित्व की रक्षा के लिए संघर्ष करना दुःखदायी है, एवं भाग्य के उतार-चढ़ाव भवावह हैं।

''धम्मवाद'' में ऐसा कहा गया है-

''न तो आकाश में, न समुद्र के अन्तःस्थल में, और न पर्वत की कन्दराओं में- संसार में कही भी ऐसा स्थान नहीं मिलेगा जहाँ मृत्यु के आक्रमण से बचा जा सके।''[15]

कपिलवस्तु के राजपथ पर कराहती हुई मानवता के जो दृश्य बुद्ध ने देखे थे, रोगी बुद्ध तथा मृतक की वेदना का जो अनुभव उन्हें प्राप्त हुआ था और छः वर्ष की घोर तपस्या में जो अन्तरानुभूति उन्हें प्राप्त हुई थी उन सबके परिणामस्वरूप उन्होंने कह डाला कि संसार की समस्त कार्य व्यापार दुःखमय है। जन्म दुःख है। मृत्यु दुःख है। जय-पराजय दुःख है। जय बैर को उत्पन्न करता है, पराजय दुःख का प्रसव करता है। वृद्धावस्था, रूग्णता, दौर्बल्य सभी दुःख है। इन दुःखों से मृत्यु सर्वाधिक पीड़ा देने वाला अजेय दुःख है। मृत्यु को कोई जीत नहीं सकता। मृत्यु की सार्व भौमिक शक्ति के सामने कोई नहीं टिक सकता। मृत्यु की कल्पना मात्र से मनुष्य आक्रन्दन करने लगता है। मृत्यु जीवन का अंतिम सत्य है। प्रकाण्ड विद्वान, ज्ञानी, शूरवीर सभी एक न

एक दिन मृत्यु के ग्रास बन जाते है। वस्तुतः मृत्यु जीवन का अपरिहार्य अंत है। इन दुःखी के अतिरिक्त वे सब भी दुःख है जिन्हें सुख मानते हैं। विषय, भोग, इन्द्रिय सुख, ऐश्वर्य, विलास, मान, सम्मान, मोह, सन्तति, धन, वैभव, सभी दुःख ही हैं क्योंकि ये आसक्ति से उत्पन्न होते है और आसक्ति ही जीवन-मरण का कारण है। इनका परिणाम अन्त में दुःख ही होता है क्योंकि इन्हीं के कारण राग द्वेष, ईष्या, मोह, मद्ध, दम्भ, छल, कष्ट आदि अवगुणों की उत्पत्ति होती है। इनकी तुष्टि से अधिकाधिक प्राप्त करने की वासना बढ़ती है और अतुष्टि होने पर आत्मग्लानि जैसे महाघातक मनोविकार पैदा होते हैं। अतः वे पदार्थ जिन्हें हम सुखरूप समझते हैं वे सब भी दुःख हैं। सुख वास्तव में आने वाले दुःख की सूचना देता है। अतः वर्तमान सुख से खुश नहीं होना चाहिए वरन् यह मानकर दुःखी होना चाहिए कि निकट भविष्य में दुःख आने वाला है। इस प्रकार सुख अस्थिर है और अन्त में असुख बन जाता है, स्थिर है केवल दुःख। इस कारण सभी कुछ दुःख में गिना जाना चाहिए। अन्त में गौतम बुद्ध ने यहाँ तक कह डाला कि पाँचों उपादान स्कन्ध दुःख है अर्थात् रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान सब कुछ दुःख है। जब पंचस्कन्ध ही दुःख है तो समस्त संसार को ही दुःखमय कहा जायेगा क्योंकि संसार की व्याप्ति पंच स्कन्धों में ही है।

दुःख-समुदाय -

गौतम बुद्ध ने संसार में सर्वत्र दुःख ही दुःख देखकर उसके निदान पर चिन्तन किया। यह एक निर्विवाद सिद्धान्त है कि कोई वस्तु बिना किसी

कारण के उत्पन्न नहीं होती। इसी ध्रुव सत्य के आधार पर बुद्ध ने दुःख का कारण जानने का प्रयास किया। दुःख के आदि कारण के विषय में बुद्ध कहते हैं-

"यथार्थ में प्रबल तृष्णा ही है जिसके कारण बार-बार जन्म होता है और उसी के साथ इन्द्रिय सुख आते है जिनकी पूर्ति जहाँ तहाँ से की जाती है- अर्थात इन्द्रियों की तृप्ति के लिए प्रबल लालसा अथवा सुख समृद्धि की प्रबल लालसा ही दुःख का कारण है।"[16]

उपनिषदों ने पहले ही दुःख के कारण की ओर निर्देश कर दिया है। उनके अनुसार जो स्थायी (नित्य) है वह आनन्दमय है और क्षणभंगुर (अनित्य एवं अस्थायी) दुःखदायी है- "यो वे भूमा तदमृतम्, अन्यदार्तम्"। नित्य एवं अपरिवर्तनशील ही सत्य या यथार्थ, स्वतंत्र एवं सुखमय है, किन्तु यह संसार जो जन्म, जरा एवं मृत्यु से युक्त है, दुःख के अधीन है। अनात्म में यथार्थ नहीं मिल सकता, क्योंकि अनात्म उत्पत्ति और रोग के अधीन है। नित्य को उत्पत्ति एवं रोग नहीं व्याप सकते। चूँकि सब वस्तुयें अस्थायी हैं इसलिए दुःख है। इस प्रकार बुद्ध के अनुसार संसार का अस्थायित्व ही दुःख का मूल कारण है। "मिलिन्द पन्हों" में राजा मिनेण्डर आचार्य नागसेन से इस सम्बन्ध में प्रश्न करते है। इस पर आचार्य नागसेन उत्तर देते हुए कहते हैं-

"हे राजन्! तीन वस्तुयें ऐसी है जो तुम्हें इस संसार में नहीं मिल सकता- अर्थात् वह वस्तु जो सचेतन अथवा अचेतन अवस्था में हो लेकिन जो क्षय या मृत्यु के अधीन न हो, तुम्हें नहीं मिलेगी, ऐसा गुण, ऐन्द्रिय अथवा

अनैन्द्रिय, जो अस्थायी न हो, तुम्हें नहीं मिलेगा, और उच्चतम् अर्थों में सत् नाम की ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसे हम सत्-स्वरूप कह सकें।''[17]

इस प्रकार दुःख ऐसी वस्तु है जो क्षण भंगुरता से युक्त है। इच्छायें ही दुःख को जन्म देती है, क्योंकि हम ऐसी वस्तु की इच्छा करते हैं जो अस्थायी है, परिवर्तनशील है, एवं नाशवान् है। इच्छित वस्तु की क्षणभंगुरता ही निराशा एवं शोक-सन्ताप का कारण है। समस्त सुख भी क्षण भंगुर हैं। इसप्रकार बुद्ध की स्थापना है कि इच्छायें या लालसा ही दुःख को जन्म देती हैं। अज्ञान ही मुख्य कारण है जिससे मिथ्या इच्छा उत्पन्न होती है। ज्ञान की प्राप्ति पर दुःख का अन्त हो जाता है। अज्ञान एवं मिथ्या इच्छा एक ही घटना के कल्पनात्मक एवं क्रियात्मक दो पार्श्व है। मिथ्या इच्छा का सारहीन अमूर्तज्ञान ही अज्ञान है और अज्ञान को मूर्तरूप में ग्रहण करने से ही मिथ्या इच्छा उत्पन्न होती है। ललित विस्तर के अनुसार- ''अज्ञान को दूर हो जाने पर विचार भी शान्त हो जाते हैं और अज्ञान के विनाश हो जाने पर उनका भी विनाश हो जाने पर उनका भी विनाश हो जाता है, विचारों के नाश हो जाने पर बोध या ग्रहण का भी नाश हो जाता है।''

दुःख निरोध-

दुःख के निवारण रूप आर्य सत्य यह है- ''यथार्थ में यह मृत्यु ही है क्योंकि इस अवस्था में कोई वासना शेष नहीं रहती, यह एक उत्कट अभिलाषा रूपी तृष्णा का त्याग है- उससे विरहित हो जाना एवं उससे मुक्ति पा जाना, तभी इसके आगे उसे पास न फटकने देने का ही नाम निर्वाण है।

''बुद्ध ने कभी निर्वाण के वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में किसी प्रथा का प्रत्यक्ष विध्यात्मक उत्तर नहीं दिया। उन्होंने अनुभव किया कि उनके जीवन का उद्देश्य परमानन्द अथवा ईश कृपा के रहस्यों का उद्घाटन न होकर मनुष्यों को उसका साक्षात् अनुभव कराना ही था। उनके सम्मुख सबसे मुख्य विषय, जिसके अन्दर सब कुछ आ जाता है, दुःखमय जीवन की समस्या को हल करना था। निर्वाण शब्द का अर्थ है ''बुझ जाना'' अथवा ''ठंडा होना''। बुझ जाने से विलोप हो जाने का संकेत है। ठंडा हो जाने का तात्पर्य सर्वथा शून्य भाव नहीं है। बल्कि केवल उष्णतामय वासना का नष्ट हो जाना है।[18] बौद्ध धर्म के अनुसार, ''निर्वाण का स्वरूप ईश्वर की कृपा से उसका साहचर्य नहीं है क्योंकि उसका तात्पर्य होगा कि जीवित रहने की इच्छा बराबर बनी रहे।'' बुद्ध का आशय केवल मिथ्या इच्छा का विनाश करना था, जीवनमात्र का विनाश करने से नहीं था। केवल वासना, घृणा एवं अज्ञान के नाश का नाम ही निर्वाण है। निर्वाण के दो भेद किये गये है-

1. उपाधिशेष

2. अनुपाधिशेष

उपाधि शेष निर्वाण में केवल मनुष्य की वासनायें ही लुप्त होती है। और अनुपाधिशेष निर्वाण में पूरा अस्तित्व विलुप्त हो जाता है। पहले प्रकार का निर्वाण पूर्णता प्राप्त सन्त पुरुष को उपलक्षित करता है जिसमें कि पांचों स्कन्ध अब भी उपस्थित है, यद्यपि वह इच्छा शक्ति जो हमें जन्म धारण की ओर आकृष्ट करती है, लुप्त हो जाती है। दूसरे प्रकार के निर्वाण

में सन्त पुरुष की मृत्यु के पश्चात् एवं मृत्यु के परिणाम स्वरूप समस्त अस्तित्व का ही लोप हो जाता है। प्रथम में मुक्तात्मा पुरुष मुक्त होते हुए भी जीवन धारण करते है एवं दूसरे के अन्तर्गत वे मुक्तात्मा पुरुष आते है जिनका सांसारिक जीवन समाप्त हो गया है। जब यह कहा जाता है कि मनुष्य को जीते जी निर्वाण प्राप्त हो सकता है तो उससे तात्पर्य उपाधिशेष निर्वाण से ही होता है। उपाधिशेष एवं अनुपाधिशेष निर्वाण को क्रमशः निर्वाण एवं परिनिर्वाण भी कह सकते है।

महात्मा बुद्ध ने अन्तिम मोक्ष का आशय यह बताया है कि यह चेतना की निर्दोष अवस्थाओं के प्रवाह के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। किसी भी प्रकार के दबाव एवं संघर्ष से मुक्त यह एक प्रकार का मानसिक विश्राम है। इस अवस्था मे पहुँचकर समस्त दुर्वासनात्मक प्रवृत्तियों का दमन हो जाता है तथा आध्यात्मिक उन्नति आरम्भ हो जाती है। यह परमानन्द की अवस्था होती है। यहाँ पहुंचकर सभी प्रकार के संघर्ष, सभी शून्यतायें समाप्त हो जाती है। इस अवस्था में ''मैं'' का भाव समाप्त हो जाता है और व्यक्ति सम्पूर्ण विश्व से मुक्त हो जाता है यह पूर्णता की अवस्था हैं इस अवस्था में जिसकी तुलना प्रगाढ़ निद्रा के साथ ही जाती है, आत्मा अपने व्यक्तितत्व को खो बैठती है एवं प्रमेय रूपी सम्पूर्ण विश्व में विलीन हो जाती है। उस अवस्था में पूर्णता का अर्थ होता है उन समस्त पदार्थो के साथ एक होना जो हैं, या कभी रहें हैं, या रहेंगे। सत् पदार्थो के क्षितिज का विस्तार उस अवस्था में यथार्थ परमसत्ता तक हो जाता है। यह अंह भाव से विहीन एक

अनन्त जीवन है, जो "विश्वास, शान्ति, प्रशान्ति, परम आनन्द, सुख, मृदुता, पवित्रता एवं प्रत्यग्रता (ताजेपन) से परिपूर्ण है।"[19]

अत: समस्त दुःखों का निरोध ही निर्वाण है। दुःख निरोध से तात्पर्य समस्त दुःखों के द्वादश कारणों का निरोध करना है। निर्वाण से द्वादश दुःख हेतुओं का नाश होता है। पुनर्जन्म से निवृत्ति मिलती है। भवचक्र से प्राणी मुक्त हो जाता है और निर्वाण प्राप्ति के उपरान्त अपने वर्तमान जीवन में आनन्द और शान्ति का अनुभव करता है। उन उसमें रागद्वेषादि अवगुण रह जाते हैं और न लोभ मोहादि बन्धनकारी तत्व। निर्वाण के विषय में नागसेन ने मिलिन्द से कहा था कि "निर्वाण समुद्र की भाँति गहरा, पर्वत की भाँति ऊँचा और मधु की भाँति मधुर है। "बुद्ध ने निर्वाण के स्वरूप को वर्णनातीत कहा है।

दुःख निरोध-मार्ग-

दुःख, दुःख समुदय, तथा दुःख निरोध का वर्णन करने के उपरान्त महात्मा बुद्ध ने चतुर्थ आर्य सत्य को अनावृत्त किया। यह है दुःख के निरोध का मार्ग। दुःख का निरोधापाय बतलाये हुए तथागत ने अष्टांगिक मार्ग का उपदेश किया। यह अष्टांगिक मार्ग वही है जिसका अनुशीलन करके स्वयं बुद्ध ने निर्वाण प्राप्त किया था। बुद्ध ने जिस जीवन- पद्धति का प्रतिपादन किया वह अत्यन्त विषय भोग और "आत्म नियंत्रण की पराकाष्ठा" दोनों से रहित है अर्थात् एक मध्यम मार्ग है। बुद्ध छ: वर्ष की कठोर तपस्या के बाद इस परिणाम पर पहुँचे कि "ऐसा व्यक्ति जिसने तपस्या से कृश होकर अपना बल

खो दिया हो वह सत्य के मार्ग का अवलम्बन नही कर सकता।'' उसके शब्दो मे ''दो प्रकार की पराकाष्ठाये है, और दोनो का ही अनुसरण जीवन यात्रा मे प्रवृत्त व्यक्ति को त्याग देना चाहिए अर्थात् एक ओर बराबर वासनाओ एवं इन्द्रियो के सुख भोगो मे लिप्त रहना, और दूसरी ओर अपने शरीर को यातना एवं कष्ट देने मे रत रखना जो कि दुःखदायी है। अधम है एवं किसी प्रयोजन का नही है। तथागत ने इन दोनो के बीच एक मध्यम मार्ग को खोज निकाला है। यह ऐसा मार्ग है जो आँखे खोल देता है और विवेक शक्ति प्रदान करता है अथवा जो शांति उच्चतम ज्ञान की प्राप्ति के लिए अन्तर्दृष्टि एवं अन्त में निर्वाण की ओर हमें ले जाता है। यथार्थ मे यही आठ सूत्री आर्य मार्ग है अर्थात्- सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि।''[20]

4.2 बौद्ध दर्शन की ज्ञान मीमांसा

बुद्ध तत्व मीमांसक थे, ज्ञान मीमांसक थे अथवा नैतिक आचार परक उपदेशक थे? यह प्रश्न बड़ा ही जटिल है। अध्यात्मशास्त्रीय प्रश्नों पर मौन रहकर तथा उन्हें अव्याकृत कहकर बुद्ध ने इस प्रश्न को और भी जटिलतर बना दिया है। बुद्धदेशना पर गहराई से विचार करने के पश्चात् यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वास्तव में बुद्ध तत्व मीमांसक भी थे, ज्ञान मीमांसक भी थे और नैतिकता एवं सदाचार के उपदेशक भी। तथागत द्वारा उपदिष्ट तत्व मीमांसा का विवेचन अनुसंधानकर्ता द्वारा प्रस्तुत किया जा चुका है यहाँ पर ज्ञान मीमांसा का विवेचन अपेक्षित है।

सर्वप्रथम प्रश्न उठता है कि प्रमाण क्या है? बुद्ध ने भौतिक वादियों के विपरीत प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान प्रमाण को भी स्वीकार किया है। यद्यपि बौद्ध दर्शन के अनुमान प्रमाण नैयायिकों से भिन्न हैं। बौद्धमत में केवल कारण एवं कार्य के मध्य सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है जबकि नैयायिक अन्य प्रकार के भी सतत् साहचर्य के दृष्टान्तों को अनुमान के अन्तर्गत स्वीकार करता हैं। बौद्ध दर्शन के अनुसार हम कार्य के कारण का अनुमान कर सकते है किन्तु न्याय दर्शन के अनुसार कारण से कार्य का अनुमान करने के अतिरिक्त लक्षणों के द्वारा उपलक्षित वस्तुओं की सत्ता का भी अनुमान कर सकते हैं। यह भेद परिणति के बौद्ध सिद्धान्त के द्वारा है। यद्यपि आगमनात्मक अनुमान द्वारा प्राप्त सामान्य व्यापक सिद्धान्त जिनका आधार वस्तुओं के साहचर्य के ऊपर है, सर्वथा यथार्थ नहीं भी हो सकते, कारण-कार्य सिद्धान्त के आधार पर प्राप्त अनुमान ज्ञान सदा ही सही होता है। सींग रखने वाले सब पशुओं के खुर फटे होते हैं, यह एक आनुभविक सामान्य अनुमान है जो अनुभव की सीमा के अन्दर सही निकलते देखा गया है, यद्यपि यह नितान्त सत्य नहीं भी हो सकता है। किन्तु धुएं को देखकर अग्नि की उपस्थिति का अनुमान करना ऐसा है जिससे निषेध नहीं किया जा सकता, क्योंकि यदि इस प्रकार के सत्य का निषेध करने लगे तो जीवन ही असम्भव हो जायेगा।[21] प्रथम उदाहरण नैयायिक मत से सम्बन्धित है जबकि द्वितीय उदाहरण से बौद्ध अनुमान की पुष्टि होती है।

जहाँ तक परम सत्य का प्रश्न है, बुद्ध ने जगत् के आदि कारण एवं अन्तिम लक्ष्य पर विचार करने से निषेध किया है। उन्हें वास्तविक जीवन से

ही तात्पर्य है, परम यथार्थ सत्ता से नहीं। वे संसार की नित्यता अथवा अनित्यता के विवाद में नहीं फँसना चाहते थे। बुद्ध की पद्धति दर्शन पद्धति न होकर एक प्रकार का यान या सवारी है जिस पर बैठकर मोक्ष तक पहुँचा जा सकता है। बुद्ध अनुभव का विश्लेषण करते है उसके यथार्थ स्वरूप में भेद करते है। बुद्ध अपने ध्यान को इस संसार तक ही सीमित रखते है और देवताओं को एकदम नही छूते इसी प्रकार देवताओं से भी यही आशा करते है कि वे भी उनके ध्यान में विघ्न नही डालेगें। इन्द्रियातीत यथार्थ सत्ताओं के प्रति वे हठपूर्वक नास्तिकवाद की दृष्टिकोण ही अपनाये हुए है, क्योंकि एक मात्र इसी प्रकार के मत की आनुभविक तथ्यों, तार्किक परिणामों एवं नैतिक नियमों के साथ संगति बैठ सकती है। किसी भी विषय का उन्होंने सर्वथा निराकरण नही किया अपितु पृष्ठभूमि को खुला छोड़ दिया है, जिस पर कोई भी सिद्धान्त सम्बन्धी पुनर्रचना की जा सकती है। अध्यात्मशास्त्र सम्बन्धी समस्याओं के प्रति वे सर्वथा उदासीन थे। उनका केवल यही मत था कि जिसकी व्याख्या नही की जा सकती जो अनिर्वचनीय है, उसका निर्वचन करने का प्रयास करना व्यर्थ है।

बुद्ध ने "परमसत्य" पर विचार नही किया है। इसका अर्थ यह कदापि नही है कि वे स्वयं भी परम सत्य को नही जानते थे। वास्तव में बुद्ध जन साधारण के अन्दर उन सत्यों की घोषणा नही करते थे क्योंकि उन्हें भय था कि कहीं उनके मन विचलित न हो जायें। उनका विचार था कि परम सत्य को बताया नही जा सकता। यह तो अनुभव की वस्तु है। वास्तविक ज्ञान हो जाने पर इसका अनुभव किया जा सकता है। वास्तविक ज्ञान अष्टांगिक मार्ग

का अनुसरण करके ही सम्भव है। इस प्रकार बुद्ध ने ज्ञान प्राप्त करने के साधन के रूप में अष्टांग मार्गो का निरूपण किया है। बुद्ध मनुष्य के ज्ञान की सीमाओं से परिचित थे और इसीलिए उन्होंने तर्क द्वारा जानने योग्य विषय एवं अज्ञेय विषय के मध्य परिधि की रेखा खींच दी। वे यह अनुभव करते थे कि हमारी इन्द्रियाँ परिणत पदार्थो का ज्ञान प्राप्त कर सकती है और परिणत वस्तुयें वास्तव में सत् नहीं हैं। मनुष्य के मन की पहुँच से यथार्थ सत्ता हमेशा ही बाहर रहेगी क्योंकि मनुष्य स्वयं अविद्या की उपज है। ऐसा ज्ञान जो मैं और "तू" में भेद करता है, परम ज्ञान नहीं है। मनुष्य एवं सत्य के बीच एक ऐसा आवरण है जिसके बीच में प्रवेश करना कठिन है तो भी यह सत्य अथवा ज्ञान जिसे हम प्रत्यक्ष नहीं कर सकते या नहीं जान सकते, अयथार्थ नहीं है। ज्ञान के सम्बन्ध में मिलिन्द तथा नागसेन का यह संवाद उल्लेखनीय है-

"हे नागसेन! ज्ञान का निवास कहाँ है?"

"राजन्! कहीं नहीं।"

"भगवन्! तब फिर ज्ञान कोई वस्तु नहीं है।"

"राजन्! वायु का निवास स्थन कहाँ है?"

"कहीं भी नहीं।"

"राजन्! तब फिर वायु नाम की कोई पदार्थ नहीं।"

अर्थात् वायु पदार्थ है यह सत्य है। इसी प्रकार ज्ञान भी यथार्थ है यद्यपि इसे तर्क के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं दिखाया जा सकता अथवा सिद्ध नहीं किया जा सकता।

बुद्ध के अनिर्णय एवं अध्यात्म विषयक समस्याओं पर उनके मौन ने उनके शिष्यों के लिए खुला मार्ग छोड़ दिया। इसीलिए परवर्ती बौद्ध आचार्यों ने अपने-अपने दृष्किोण से ज्ञान तथा यथार्थता की व्याख्या की। नागसेन में सर्वोपरि यथार्थ सत्ता एक निराधार धारणा बन गयी। वह ज्ञेप एवं अज्ञेप के बीच के भेद का खण्डन करता है। वस्तुओं का ज्ञान उनकी दृष्टि में सापेक्ष नही रह जाता। यह यथार्थ एवं निरपेक्ष है। अनुभव से परे कुछ नहीं। यथार्थ एवं अनुभव जन्य उसके मत में एक समान है। सापेक्ष भी परमतत्व है। सच्ची अध्यात्म विद्या का सिद्धान्त वही है जो अनुभव का सिद्धान्त हो, न कि जो पृष्ठभूमि में अपने को पर्दे में छिपाये हो। आगे चलकर बौद्ध दर्शन की एक शाखा योगाचार विज्ञानवाद का जन्म होता है। योगाचार दर्शन के अनुसार मन से बाहर संवेदना का कोई स्रोत नहीं है। ज्ञान, ज्ञाता ज्ञेप- सब एक ही हैं। ज्ञान ही ज्ञान को देखता है।

वास्तव में गौतम बुद्ध का लक्ष्य मनुष्य को दुःखों से छुटकारा दिलाना था। उन्होंने इस कटु सत्य का अनुभव किया कि मनुष्य दुःख से पीड़ित है, इसे इस दुःख से मुक्ति मिलनी चाहिए। इसी क्रम में उन्होंने बताया कि दुःख का मूल कारण अज्ञान है। इस अज्ञान को दूर करके ज्ञान को प्राप्त करके दुःख से मुक्त हुआ जा सकता है। ज्ञान प्राप्त करने के लिए उन्होंने आठ मार्ग बताये। इनका अनुकरण करने पर मनुष्य को ज्ञान प्राप्त होता है, उसकी समस्त इच्छायें, एषणायें, आस्रव, तृष्णा, राग, द्वेष, मोह निरोधित हो जाती हैं। वह जन्म-मृत्यु के भव चक्र से मुक्त हो जाता है, उसे निर्वाण प्राप्त हो जाता है। यह निर्वाण ही परम सत्य है। इस प्रकार ज्ञान प्राप्त होने

पर परम सत्य की अनुभूति होती है। कहा गया है कि निर्वाण ही नित्य एवं सत्य है, संसार अनित्य होने के कारण मिथ्या है।

4.3 बौद्ध दर्शन की मूल्य मीमांसा

बौद्ध दर्शन अवैदिक, अनात्मवादी व अनीश्वरवादी होते हुए भी नैतिकतावादी, तर्कवादी व आदर्शवादी है। बौद्ध दर्शन के अनुसार अणुओं से निर्मित इस संसार में चेतना प्रमुख है। आत्मा क्षण-क्षण परिवर्तित चेतना की अविरल धारा है। प्रत्यक्ष एवं अनुमान को ज्ञान की साधन मानते हुए बौद्ध दार्शनिक अनुभवात्मक ज्ञान को आवश्यक बताते है और प्रत्येक अनुभव को विवेक की कसौटी पर रखते है। वे तर्क बुद्धि को प्राथमिकता देते हैं। शारीरिक सामाजिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों को बौद्ध महत्वपूर्ण मानते हैं। शारीरिक सामाजिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों को बौद्ध महत्वपूर्ण मानते हैं। बौद्ध दर्शन नैतिकता पर सर्वाधिक बल देता है और नैतिकता के माध्यम से व्यक्ति के अन्दर तथा समाज में मूल्यों की स्थापना करना चाहता है।

इस संसार में हमारा मनुष्य जीवन एक अनजाने देश की यात्रा है जिसकी अवधि को एक यथार्थ ज्ञान पुरूष कभी भी अधिक नहीं करना चाहेगा। बुद्ध हमें आन्तरिक द्वन्द्व में से, जो मानव जीवन का एक विशिष्ट लक्षण है, निकालने का मार्ग दर्शाते है। बुद्ध के उपदेशों का लक्ष्य दुःख से छुटकारा पाना है। नैतिक जीवन का उद्देश्य इस विस्तृत असाधु-जीवन से बच निकलना है। अपने आपको विनष्ट करने में ही मोक्ष है। निर्वाण तो उच्चतम

लक्ष्य है एवं आचरण की ऐसी सब विधियाँ जो हमें निश्चित रूपसे निर्वाण की ओर ले जाती हैं अथवा पुनर्जन्म का नाश करती है, शुभ (पुण्य) है, और उनके विपरीत सब कर्म अशुभ (पाप) है। दूसरे शब्दों में शुभ (पुण्य) कर्म वे है जो वासनाओं, इच्छाओं एवं अहं की भ्रान्त भावनाओं के ऊपर हमें विजय प्राप्त करने का मार्ग दर्शन करते हैं। अशुभ कर्म (पाप) वे हैं जो हमें दु:खदायी दण्डभोग की ओर ले जाते हैं। इसके अतिरिक्त शुभ कर्म वे हैं जो भविष्य जीवन या लोकोत्तर जीवन में सुख प्राप्ति के उद्देश्य को लेकर किये जाते हैं, इसी प्रकार अशुभ कर्म वे हैं जो इसी जन्म में सुख की अभिलाषा को ध्यान में रखकर किये जाते हैं। मंगल कृत्य लोक-कल्याणकारी होते हैं जबकि अमंगल कृत्य स्वार्थपरता को जन्म देते हैं। लोग आत्म कल्याण के लिए अनेक मंगल कृत्य करते हैं तिथि, मुहूर्त, नक्षत्रादि का फल विचरवाते है, नाना प्रकार के व्रतादि करते हैं। उनकी दृष्टि में ये ही वास्तविक मंगल कृत्य हैं। भगवान् इन्हें आवास्तविक मंगल मानते हैं। भगवान् महामंगल सुत्त में कहते हैं कि माता-पिता की सेवा, पुत्र-दार का संग्रह, दान, धर्मचर्या, अनवद्य कर्म- ये उत्तम मंगल हैं। तप, ब्रह्मचर्य, आर्य सत्यों का दर्शन है, निर्वाण का साक्षात्कार- ये उत्तम मंगल हैं। उन्होंने राग, द्वेष, और मोह को अकुशल मूल कहा है। इनका प्रहाण होना चाहिए क्योंकि राग के समान कोई अग्नि नहीं है, द्वेष के समान कोई कलि नहीं हैं। गौतम का आह्वान था कि-

"अक्रोध से क्रोध को जीतो, साधुता से असाधु को जीतो, कदर्य को दान से और मृषावादी को सत्य से जीतो।"

भगवान ने इन्द्रिय संयम को भी पर्याप्त महत्त्व दिया है। वे कहते है कि जिसके इन्द्रिय द्वार अगुप्त है, जो भोजन में मात्रा का विचार नहीं करता, उसका चित्त और काय दोनों दुःखी होते है। स्मृति और संप्रजन्य से आश्रय-रक्षा होती है। ये द्वार पाल है, जो चित्त की अकुशल कर्मों से रक्षा करते है। भगवान ने तीन अकुशल वितर्क बताये है- काम, व्यापाद और विहिंसा। इनका परित्याग करना चाहिए। तीन कुशल वितर्कों का -नैष्क्रम्य, अव्यापाद और अविहिंसा का संग्रह करना चाहिए।

बुद्ध ने जिस पवित्रता, त्याग और सदाचार के आधार पर अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया था और जिस सफलता से वह महान गुरु विश्व में पूज्य बन गया, उसकी आचार-आज्ञायें भी उतनी ही महान् थी। उन्होंने भिक्षुओं एवं गृहस्थों के लिए ''पंचशील'' का विधान किया था-

1. कोई किसी जीव को न मारे। (प्राणातिपात- विरति)
2. जो वस्तु न दी गयी हो उसे न लो (अदत्ता दान विरति)
3. झूठ न बोलना चाहिए। (मृषावाद-विरति)
4. नशीले पदार्थ का सेवन नहीं करना चाहिए। (सुरा-मैरेय-प्रमाद-स्था-विरति)
5. व्यभिचार नहीं करना चाहिए (काम मिथ्याचार-विरति)

कट्टर धार्मिकों के लिए तीन अतिरिक्त नियमों का पालन करना आवश्यक बताया गया है-

1. कुसमय भोजन नहीं करना चाहिए (अकाल भोजन-विरति)

2. सुगन्धित द्रव्य नहीं सेवन करना चाहिए। (माल्य-गंध-विलोपन-विरति)

3. भूमि पर सोना चाहिए। (उच्चासन शयन-विरति)

भिक्षुओं के लिए इन आठ नियमों के अतिरिक्त निम्नलिखित दो अन्य नियमों का पालन करना आवश्यक है-

1. नृत्य-संगीत का निषेध (नृत्यगीत-वादित्र-विरति)

2. सोने चाँदी का निषेध (जातरूप-रजत प्रतिगृह-विरति)

इस प्रकार गृहस्थों के लिए ''पंचशील'' का पालन आवश्यक है जब कि भिक्षुओं के लिए ''दशशील'' का।

इस प्रकार गृही के लिए ''पंचशील'' का तथा भिक्षु के लिए ''दशशील'' का अत्यन्त महत्व था। सभी जीव तृष्णा रूपी जटा से विजटित हैं। तृष्णा का विनाश किये बिना दुःख का अत्यन्त निरोध नहीं होता। तृष्णा जटा का विनाश करने से ही विशुद्धि होती है। इस विशुद्धि के अधिगम का उपाय बताये हुए संयुत्त-निकाय में भगवान कहते है कि-

''जो मनुष्य शील में प्रतिष्ठित हैं, समाधि और प्रज्ञा की भावना करता है वह प्रज्ञावान् और वीर्यवान् भिक्षु इस तृष्णा जटा का नाश करता है।''

सर्वपाप से विरति ही शील है, कुशल (शुभ) में चित्त की एकाग्रता समाधि है, जब योगी प्रज्ञा से देखता है कि संस्कार अनित्य हैं, सब

संस्कार दुःख है, सबधर्म अनात्म है, तब दुःख का निरोध होता है। शील के अपाय (पाप) का अतिक्रम होता है समाधि से कामधातु का और प्रज्ञा से सर्वभव का समतिक्रम होता है। एक दूसरी दृष्टि से शील से दुश्चरित्र का समाधि से तृष्णा-संक्लेश का और प्रज्ञा से दृष्टि-संक्लेश का विशोधन होता है। प्रज्ञा, शील, समाधि को बौद्धों ने ''शिक्षात्रय'' कहा है। यह बौद्ध धर्म-दर्शन का मूल आधार है। यही विशुद्धि का मार्ग है।

जो भिक्षु शिक्षापदों की रक्षा करता है, जो आचार-गोचर सम्पन्न है अर्थात् जो मनसा, वाच, कर्मणा अनाचार नहीं करता और योग क्षेम चाहने वाले कुलों का आसेवन करता है, जो अणुमात्र भी पाप से डरता है जिसकी इन्द्रियाँ संवृत हैं, जो आजीव के लिए पापधर्मो का आश्रय नहीं लेता अर्थात् जिसका आजीव परिशुद्ध है, जो परिष्कारों का उपयोग प्रयोजनानुसार करता है जो शीतोष्ण से शरीर रक्षा के लिए और लज्जा के लिए चीवर धारण करता है, जो शरीर को विभूषित करने के लिए नहीं जो शरीर की स्थिति के लिए आहार करता है इत्यादि। उस भिक्षु का शील परिपूर्ण होता है। इस प्रकार शील सम्पन्न होकर समाधि की भावना करनी चाहिए। शील सम्पन्न सुभावित चित्त में राग को अवकाश नहीं मिलता।

इसी प्रकार उपासक को धर्म-श्रवण करना चाहिए, उपवास-व्रत रखना चाहिए, भिक्षुओं को दान देना चाहिए चार तीर्थो (कपिलवस्तु, बोधगया, सारनाथ, कुसीनारा) की यात्रा करनी चाहिए, भद्रकशील व भद्रक-दृष्टि से समन्वागत होना चाहिए, मानसिक कायिक तथा वाचिक दृश्चरित्र से बचना चाहिए। तब वह अपाय-गति से बचता है और स्वर्ग में उत्पन्न होता है।

आचार-सम्बन्धी महत्वपूर्ण नियमों एवं दायित्वों का उल्लेख ''सिंगालोवाद सूत्र'' में किया गया है। इस ग्रन्थ का अनुवाद कई यूरोपीय भाषाओं में किया गया है। इस ग्रन्थ से तत्कालीन सामाजिक जीवन के आदर्श का यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है। अपने बच्चों को धार्मिक शिक्षा और सांसारिक सुख देने के लिए माता-पिता की उत्सुक भावना; माता-पिता के पालन करने, उनका सत्कार करने और मृत्यु के उपरान्त आदर पूर्वक उनका स्मरण करने के लिए पुत्र की भक्ति पूर्ण अभिलाषा; शिष्य का अपने गुरु के प्रति सत्कार का व्यवहार और गुरु की शिष्य के लिए उत्कट चिन्ता तथा प्रीति; पति का अपनी पत्नी के साथ सत्काम, दया, मान और प्रीति के साथ व्यवहार; पत्नी की गृहस्थी के कामों में चौकस रहना; मित्रों-मित्रों में, स्वामी-नौकर में गृहस्थी-धार्मिकों के मध्य जो दया का भाव रखने का उपदेश दिया गया है। वह सब सर्वोत्तम शिक्षायें हैं, बौद्ध-धर्म-दर्शन ने अपना महत्वपूर्ण उद्देश्य बनाया है। इन्हीं सर्वोत्तम शिक्षाओं, नियमों आदि के द्वारा बौद्ध दर्शन ने तत्कालीन व्यक्तियों तथा समाज में सामाजिक आध्यात्मिक नैतिक मूल्यों की स्थापना करने में समर्थ हो सका।

संदर्भ-

1. प्रो0 रामशकल पाण्डेय, शिक्षा-दर्शन, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, पृष्ठ 3, 1983
2. प्रो0 रामशकल पाण्डेय, पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृष्ठ 3
3. प्रो0 रामशकल पाण्डेय, द्वारा पूर्वोक्त ग्रन्थ में पृष्ठ 4, 5 में उद्धृत
4. चट्टोपाध्याय एवं दत्त, भारतीय दर्शन, पुस्तक भण्डार, पटना, पृष्ठ।
5. डॉ0 उमेश मिश्र, भारतीय दर्शन, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ पृष्ठ 6
6. मज्झिम निकाय, नालान्दा-देवनागरी-पालि-ग्रन्थ माला में प्रकाशित, जिल्द 2, पृष्ठ 107-13
7. मज्झिम निकाय, पूर्वोक्त ग्रन्थ पृष्ठ 179, ''क्या आपकी कोई दृष्टि है? वत्य, तथागत से दृष्टि अपसारित है।''
8. दीघनिकाय, नागरी लिपि में सम्पादित (नालान्दा देव नागरी-पालि-ग्रन्थमाला में प्रकाशित), जिल्द 1, पृष्ठ 157

   ''कत्मा पनेतं भगवता अव्याकतं ति? तं पौट्ठपाद अत्यसंहितं, न धम्मतंहितं, न आदि ब्रह्मचरियकं, न लिब्बिदाय, न बिरागाय, न निरोधाय, न उपसमाय् न अभिज्जाय, न संबोधाय, न निब्बाणाय संकतति। तस्मा तं मया अव्याकतं ति।''

9. प्रो0 गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, 1976, पृष्ठ 68

10. प्रो0 गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, पूर्वोक्त ग्रन्थ पृष्ठ 69

11. प्रो0 गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, पूर्वोक्त ग्रन्थ पृष्ठ 69

12. प्रो0 गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, पूर्वोक्त ग्रन्थ पृष्ठ 69

13. डॉ0 राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन प्रथम खण्ड, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली, 1986, पृष्ठ 293

14. ओल्डन बर्ग, बुद्ध, 1882, पृष्ठ 216-217 (डॉ0 राधाकृष्णन्, द्वारा पूर्वोक्त ग्रन्थ में उद्धृत पृष्ठ 294)

15. डॉ0 राधाकृष्णन्, पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृष्ठ 294

16. डॉ0 राधाकृष्णन्, पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृष्ठ 296

17. मिलिन्द, 4:7, 12

ओल्डनबर्ग, बुद्ध (1882) पृष्ठ 218-219 (डॉ0 राधाकृष्णन्, पूर्वोक्त गन्थ में उद्धृत, पृष्ठ 297)

18. डॉ0 राधाकृष्णन्, पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृष्ठ 364

19. मिलिन्द, 2:2, 9, 3:4, 6, 2:1,6

20. डॉ0 राधाकृष्णन् द्वारा पूर्वोक्त ग्रन्थ के पृष्ठ 341 पर उद्धृत (धर्म चक्र प्रवर्तन सम्बन्धी प्रथम प्रवचन)

21. संयुत्त निकाय नालन्दा-देवनागरी-पालि ग्रन्थ माला प्रधान सम्पादक, भिक्खु जगदीश कश्यप, जिल्द 2, पृष्ठ 211-218, 1959

अध्याय–चार

वर्तमान शिक्षा और गौतम बुद्ध के शैक्षिक विचारों की समीक्षा

प्राचीन काल से लेकर अब तक भारतीय चिन्तनधारा में पर्याप्त स्वतंत्रता दिखायी देती है। यद्यपि भारतीय चिन्तन एवं दर्शन के स्रोत वेद में मिलते हैं और षडदर्शन में समाविष्ट दार्शनिक शाखायें वेदों के प्रभुत्व को चुनौती नहीं देती, तथापि दर्शन-चिन्तन क्षेत्र में वेदों से परे तथा वेदों के प्रभुत्व को चुनौती देने वाला दर्शन का सर्वथा अभाव नही है। चार्वाक् जैन तथा बौद्ध दर्शन इसी श्रेणी में आते हैं। ये दर्शन तथा इनके प्रतिपादक वेदों की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। चार्वाक् ने एक विशिष्ट दर्शन को जन्म अवश्य दिया किन्तु शिक्षा की दृष्टि से उसका महत्व अधिक नहीं है। जैन दर्शन का महत्व दर्शन तथा शिक्षा दोनों दृष्टियों से है। जहाँ तक बौद्ध दर्शन का प्रश्न है, बुद्ध ने एक व्यावहारिक आचार परक धर्म-दर्शन को तो विकसित किया ही साथ ही एक समुन्नत शिक्षा प्रणाली को भी जन्म दिया जिसने कालांतर में देश काल को प्रभावित किया। बौद्ध चिन्तन धारा इस देश की सांस्कृतिक परम्पराओं में समन्वित हो गयी और आज भी इस चिन्तन में विश्वास रखने वाले तथा इसके अनुरूप जीवन व्यतीत करने वाले लोग इस देश में लाखों की संख्या में विद्यमान हैं।

बौद्ध दर्शन नैतिक जीवन का दर्शन है। भगवान बुद्ध ने तत्वमीमांसा के विवेचन में समय लगाना अनुपयोगी समझा क्योंकि इससे मनुष्य के जीवन को उन्नत करने में सहायता नहीं मिलती। बुद्ध का विचार था कि जिन विषयों के समाधान के लिए पर्याप्त प्रमाण न हों उनके समाधान की चेष्ठा करना व्यर्थ है। उन्होंने अप्रत्यक्ष और संदिग्ध विषयों के बारें में तर्क का परित्याग किया क्योंकि उससे मुक्ति का मार्ग प्रशस्त नहीं होता जो उनका

परम लक्ष्य था। बौद्ध शिक्षा दर्शन भी उनके इन्हीं विचारों से प्रभावित है। अनुसंधानकर्ता अनेक प्राथमिक तथा द्वितीयक स्रोतों के अध्ययन के आधार पर वर्तमान अध्याय में आधुनिक परिप्रेक्ष्य में गौतम बुद्ध के शैक्षिक विचारधाराओं का प्रस्तुत करता है।

5.1 शैक्षिक उद्देश्य

सामान्यतया सभी भारतीय दर्शन का उद्गम किसी आत्मिक अशांति से होता है। बौद्ध दर्शन के लिए यह तथ्य और भी सत्य प्रतीत होता है क्योंकि बुद्ध का ''महाभिनिष्क्रमण'' ही उनकी आत्मिक अशांति का परिणाम था। जरा-मरण-रोगी आदि के दृश्य उनको बेचैन कर देते है और वे इनके मूल कारणों की खोज में निकल पड़ते है। उनका विचार था कि मनुष्य का सबसे बड़ा दुःख मृत्यु की कल्पना है। इस मृत्यु से छुटकारा पाकर ही मनुष्य के दुःखों का अन्त हो सकता है। किन्तु मृत्यु तभी नहीं होगी जब जन्म नहीं होगा, जन्म तभी नहीं होगा जब मनुष्य तृष्णादि बन्धनों एवं आस्रवों से मुक्त होगा। इस प्रकार सभी बन्धनों से मुक्ति दिलाना ही बौद्ध शिक्षा का मूल उद्देश्य है।

यों तो सभी भारतीय दर्शन दुःखवाद से आरम्भ करते है तथा सभी दर्शनों में शिक्षा का उद्देश्य दुःखों से मुक्ति दिलवाना माना गया है, परन्तु बौद्ध दर्शन विशेष रूप से दुःखवादी है। बौद्ध दर्शन के अनुसार जीवन में दुःख है और शिक्षा इन दुःखों को दूर करने का मार्ग बतलाती है। बौद्ध दर्शन में दुःखों का कारण अज्ञान माना जाता है और यदि इस अज्ञान को दूर

किया जा सके तो दु:खों का अन्त हो सकता है। अत: बौद्ध शिक्षा का लक्ष्य व्यक्ति को अज्ञान से मुक्त करना है, जो कि दु:ख का मूल कारण है।

सम्पूर्ण दु:ख तो तभी समाप्त हो सकते है जब इस जन्म-जरा -मरण से छुटकारा मिल जाय क्योंकि जब तक यह नामरूपात्मक शरीर है, यह संसार है, तब तक किसी न किसी प्रकार का दु:ख लगा ही रहता है। जिसे हम सांसारिक सुख समझते हैं वह भी क्षणिक होता है और उसके अन्त में पुनः दु:ख आकर घेर लेते है। सुख दु:ख का यह क्रम चलता ही रहता है। वर्तमान सुख वास्तव में आने वाले दु:ख की अभिव्यक्ति मात्र है। इस प्रकार सर्वत्र दु:ख ही व्याप्त हैं। इस दु:ख से मुक्त होने के लिए बुद्ध ने अष्टांगिक मार्ग का प्रतिपादन किया है। इस प्रकार शिक्षा का उद्देश्य "अष्टांगिक का अनुपालन होनाचाहिए" जिससे व्यक्ति जन्म-जरा-मरण से मुक्ति पा सके। अष्टांगिक मार्ग के अनुपालन में निम्नलिखित आठ उद्देश्य समाविष्ट है-

सम्यक् दृष्टि :

अविद्या के कारण इस जगत तथा आत्मा के सम्बन्ध में मिथ्या दृष्टि उत्पन्न होती है। अविद्या के कारण हम अनित्य, दु:खदायी, क्षणिक तथा सतत् परिवर्तनशील अनात्मवस्तु को नित्य, सुखदायी, तथा स्थायी और आत्मरूप मान लेते हैं। ज्ञान प्राप्ति के फलस्वरूप शिक्षित व्यक्ति वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप को पहचान लेता है। इसे सम्यक् दृष्टि कहते है। इस प्रकार शिक्षा का उद्देश्य छात्र को ज्ञान प्रदान करना अर्थात् सम्यक् दृष्टि प्रदान करना है।

सम्यक् संकल्प-

केवल ज्ञान प्राप्त कर लेने से ही दुःखों का अन्त नहीं हो जाता, जब तक कि उसके अनुसार जीवन व्यतीत करने का निश्चय न किया जाय। दूसरों के प्रति द्वेष का त्याग, सांसारिक विषयों से विरक्ति भाव तथा हिंसा का त्याग करने का निश्चय करना चाहिए। इसी का नाम सत्संकल्प है। अतः शिक्षा का एक उद्देश्य बालक को सम्यक् संकल्प करने में सहायता करना है।

सम्यक् वाक्-

दूसरों की निन्दान करना, अप्रिय तथा मिथ्या वाणी का प्रयोग न करना, अत्यधिक वाचाल न होना ही सम्यक् वाक् है। इस प्रकार शिक्षा का एक उद्देश्य छात्र को ''संयमित वाणी का व्यवहार करना'' सिखाना है।

सम्यक कर्मान्त-

अंहिसा, सत्य, अस्तेय, इन्द्रिय-संयम सम्यक् कर्म कहलाते हैं। अतः छात्र में इन गुणों का विकास ही शिक्षा का एक अन्य उद्देश्य है।

सम्यक् आजीव-

शिक्षित मनुष्य के जीवन तथा व्यवहार में इस प्रकार का रूपान्तरण होना चाहिए कि वह शुद्ध उपाय से अपना तथा परिवार का पालन-पोषण कर सके। जीविकोपार्जन के लिए उचित मार्ग का अनुसरण तथा अनुचति साधनों का परित्याग ही शिक्षित व्यक्ति की विशेषता है। अतः शिक्षा द्वारा शुद्ध उपायों से अपनी जीविका चलाना सिखलाना शिक्षा का प्रधान उद्देश्य माना गया है।

सम्यक् व्यायाम-

सम्यक् दर्शन, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मान्त और सम्यक् आजीव के गुण विकसित हो जाने पर भी छात्र अपने बुरे संस्कारों के कारण कुमार्ग पर जा सकते है और उनके मन में पुनः बुरे भाव आ सकते है। अत: शिक्षा का उद्देश्य छात्रों को ऐसी शिक्षा प्रदान करना है जिससे-

1. उनके बुरे विचार समूलनष्ट हो जाये।
2. नवीन बुरे विचार मन में प्रविष्ट न हों।
3. मन सदैव अच्छे विचारों से परिपूर्ण रहे।
4. मन में शुभ विचार धारण करने के लिए सतत् प्रयत्नशील रहें।

सम्यक् स्मृति -

अधीत शुभ विचारों का निरन्तर अभ्यास करते रहना चाहिए। ऐसा न करने से शुभ विचारों के विस्मृत होने की संभावना रहती है। अत: ''सम्मासति'' की शिक्षा देना भी शिक्षा का उद्देश्य बताया गया है।

सम्यक् समाधि-

बौद्ध शिक्षा का एक अन्य उद्देश्य छात्र को सम्यक् समाधि में प्रविष्ट होने के योग्य बनाना है। सम्यक् समाधि-निर्वाण-प्राप्ति की प्रथम अवस्था है।

कालांतर में बुद्ध के ''महापरिनिर्वाण'' के पश्चात् बौद्ध धर्म एवं दर्शन में उनके परिवर्तन हुए। बौद्ध धर्म कई सम्प्रदायों में विभक्त हो गया।

सम्प्रदायों ने अपने पृथक-पृथक दार्शनिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किये। महायान सम्प्रदाय का उदय बौद्ध धर्म के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना है। महायान के विकास के फलस्वरूप संघ के नियमों में शिथिलता आयी और व्यावहारिकता के आधार पर मठों, विहारों एवं संघों की स्थापना की गयी। नार्गाजुन, वसुमित्र, चरक, अश्वघोष जैसे दार्शनिक एवं विद्वान हुए जिन्होंने अपने-अपने विचारों का प्रतिपादन किया। इनके विचारों एवं दर्शन से बौद्ध शिक्षा भी अछूती न रही। शिक्षा-प्रणाली में मूलभूत परिवर्तन हुए। पाठ्यक्रम में दर्शन, साहित्य, आयुर्वेद जैसे लौकिक विषयों को स्थान दिया गया। आध्यात्मिक विकास के साथ-साथ लौकिक उन्नति भी शिक्षा का उद्देश्य स्वीकार किया गया। इस प्रकार शिक्षा के जो नवीन एवं व्यावहारिक उद्देश्य निर्धारित किये गये वे छात्र के लिए अत्यन्त उपयोगी थे तथा आज भी शिक्षा के संगत उद्देश्य माने जाते हैं। अनुसंधानकर्ता संक्षेप में यहाँ पर इन उद्देश्यों को प्रस्तुत करता है।

(क) चरित्र निर्माण का उद्देश्य-

चरित्र निर्माण करना बौद्ध शिक्षा का महत्वपूर्ण उद्देश्य था। आचार्य का मुख्य कार्य था नैतिक नियमों की स्थापना करके छात्रों का चरित्र निर्माण करना। मिलिन्द पान्ह के अनुसार आचार्य शिष्य का "मानस पिता" कहलाता था तथा शिष्य का चरित्र निर्माण करना उसका नैतिक कर्तव्य था। चरित्र निर्माण के लिए आवश्यक नियमों का निर्धारण किया गया था। आचार्य शिष्य को निर्देशित करता था कि उसके लिए कौन सी आदतें ग्राह्य हैं, कौन

सी परित्यज्य; किस कार्य में उसे तत्परता दिखानी चाहिए, किसमें उपेक्षा; स्वास्थ्य की दृष्टि से कब सोना लाभकारी है, कब हानिकारक; कब-कैसे-क्या भोजन करना चाहिए; किससे मैत्री करनी चाहिए तथा किन स्थानों पर जाना चाहिए।[1] मठों, बिहारों एवं विश्वविद्यालयों का वातावरण भी छात्र के चरित्र निर्माण में सहायक होता था।

(ख) व्यक्तित्व-विकास का उद्देश्य-

आत्म-विश्वास, आत्म-सम्मान, आत्म-निर्भरता तथा आत्मसंयम का विकास करना शिक्षा का दूसरा प्रधान उद्देश्य था। भविष्य की अनिश्चितता से आत्म-विश्वास डिगता है। किन्तु उस समय इसका भय न था क्योंकि छात्रों का भविष्य उज्जवल होता था। पाठ्यक्रम व्यवसाय-परक हुआ करता था जिससे छात्र भविष्य के प्रति चिंतित नहीं रहते थे। इससे उनमें आत्म-सम्मान तथा आत्म-निर्भरता का विकास होता था। आत्म-संयम भी छात्र के व्यक्तित्व को उन्नत बनाने में सहायक होता था। संयमित जीवन व्यतीत करने के लिए मठों बिहारों एवं विश्व विद्यालयें में रहने वाले विद्यार्थियों में सादगी पर बल दिया जाता था। विद्यार्थी साधारण वस्त्रों का प्रयोग करते थे। वे सात्विक भोजन करते थे। संक्षेप में, बौद्ध शिक्षा ''सादा जीवन उच्च विचार'' के सिद्धान्त पर आधारित थी। इस प्रकार बौद्ध शिक्षा छात्र में आत्म-विश्वास, आत्म-सम्मान, आत्म-निर्भरता, आत्म-संयम का विकास करके उसे समाज के समक्ष ''पूर्णव्यक्ति'' के रूप में प्रस्तुत करती थी।

(ग) धार्मिकता के विकास का उद्देश्य-

प्राचीन भारत में धर्म का जीवन में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान था। पबज्जा के समय ही छात्र द्वारा ''धम्मंशरणंगच्छामि'' की प्रतिज्ञा करना ही इस तथ्य की पुष्टि कर देता है। नित्य संध्या-पूजन, धार्मिक उत्सव एवं सभाओं, धार्मिक वाद-विवाद आदि से छात्रों में धार्मिकता जागृत की जाती थी। धार्मिक जागरण से छात्र लौकिक एवं पारलौकिक जीवन की वास्तविकता से अवगत हो जाते थे। पुरोहित एवं भिक्षु ही प्राय: आचार्य भी हुआ करते थे। अत: कोई आश्चर्य की बात नहीं कि उदीयमान संतति के मानस पर धार्मिकता की छाप लगाना शिक्षा का उद्देश्य माना गया हो। बुद्ध का भी यह अत्यन्त विवेकपूर्ण आदेश था कि प्रत्येक उपासक को विनय एवं धम्म की सम्यक् शिक्षा दी जाय।

(घ) संस्कृति-संरक्षण का उद्देश्य-

राष्ट्रीय परम्पराओं एवं संस्कृति का संरक्षण बौद्ध शिक्षा प्रणाली का सर्वाधिक महत्वपूर्ण उद्देश्य था। सर्व विदित है कि शिक्षा सामाजिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं के अविच्छेद का मुख्य साधन है। यदि शिक्षा उदीयमान संतति को उत्तम प्राचीन परम्पराओं को स्वीकार कर तदनुरूप आचरण करना नहीं सिखाती तथा अगली पीढ़ी तक इस परम्परा को नहीं पहुँचा देती तो अपने उद्देश्य में वह पूर्णतया असफल है। बौद्ध शिक्षा ने बुद्ध के उपदेश एवं भारतीय सांस्कृतिक धरोहर को अपने आंचल में संजोये रखा। भिक्षुगण स्वयं अध्ययन करते थे, जीवन में उसका परिपालन करते थे तथा दूसरों को भी शिक्षित एवं दीक्षित करते थे। समय-समय पर बौद्ध धर्म को आश्रय प्रदान

करने वाले नरेशों ने भी- अशोक, कनिष्क, हर्ष- अनगिनत मठों, विहारों, संघों एवं शिक्षण संस्थाओं का निर्माण कराकर शिक्षा के इस उद्देश्य की पूर्ति में सहायता प्रदान की। यदि कोई राष्ट्र अपनी प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा का संरक्षण एवं सवंर्द्धन नहीं कर सकता तो वह शिक्षित कहलाने का अधिकारी नहीं है। बौद्ध शिक्षा ने अपने इस उत्तर दायित्व का निर्वाह शताब्दियों तक बड़ी कुशलता पूर्वक किया।

(च) सर्वांगीण विकास का उद्देश्य -

बौद्ध शिक्षा प्रणाली में शारीरिक व्यायाम, मानसिक शिक्षा, भौतिक कल्याण तथा नैतिक जीवन के अभ्यास का समन्वय किया जाता था और इस प्रकार व्यक्तितत्व के विभिन्न पक्षों के समन्वित विकास पर ध्यान दिया जाता था। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। अतः वैयक्तिक उन्नति के साथ-साथ सामाजिक कुशलता का भी ध्यान दिया जाता था। छात्रों को उनके सामाजिक कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों से अवगत कराया जाता था। दीक्षान्त भाषण में इन कर्तव्यों के पालन का विशेष रूप में आग्रह किया जाता था।

5.2 पाठ्यक्रम

बौद्ध धर्म का मूल मंत्र था- संसार दुःख से परिपूर्ण है, संसार का परित्याग करने से ही मोक्ष की प्राप्ति होगी। अतः आरम्भ में बौद्ध शिक्षा प्रणाली में भिक्षु-भिक्षुणियों की शिक्षा पर ही ध्यान दिया जो उचित ही था। किन्तु कालान्तर में जब उन्होंने जनसाधारण को शिक्षा देना स्वीकार कर लिया तो इनकी शिक्षा प्रणाली में हिन्दुओं की शिक्षा प्रणाली से कोई अन्तर न रह गया। दोनों पद्धतियों के आदर्श व ढंग समान हो गये।

बुद्ध का यह आदेश था कि प्रत्येक उपासक को विनय तथा धर्म की शिक्षा देनी चाहिए। बुद्ध के इस आग्रह के कारण ही बौद्ध बिहारों ने शिक्षा का कार्य अपने हाथ में ले लिया और उसका विकास किया। बौद्ध संघ में प्रविष्ट होने के लिए दो संस्कार आवश्यक थे

1. पबज्जा संस्कार

2. उपसम्पदा संस्कार

पबज्जा से उपासकत्व का आरम्भ होता था। उपनयन की भांति इसे भी आध्यात्मिक जन्म कहा गया है-

''अरियाय जाति तो जात''[2]

सामान्यतया पबज्जा की उम्र 7 वर्ष मानी जाती थी। बुद्ध ने 5 वर्ष की अवस्था से ही शिक्षा ग्रहण करना आरम्भ कर दिया था।[3] इत्सिंग के समय में प्रारम्भिक शिक्षा का आरम्भ प्राय: छठे वर्ष में होता था।[4] परन्तु ह्वेनसांग ने अपने समय में प्रारम्भिक शिक्षा के आरम्भ का उल्लेख 7 वर्ष की अवस्था में ही किया है।[5] पबज्जा के लिए संरक्षक की अनुज्ञा आवश्यक थी। उपासक काल के अन्त में उप सम्पदा दी जाती थी। उप सम्पदा के समय उपासक की उम्र 20 वर्ष से कम न होनी चाहिए। ऋणी, अशक्त को दीक्षा नहीं दी जा सकती थी। बौद्ध धर्म में दीक्षित होने के लिए वर्ण का भेद न था। उपासक को बुद्ध, धम्म व संघ में विश्वास प्रकट करना पड़ता था तथा किसी विद्वान भिक्षु को आचार्य के रूप में वरण करना पड़ता था। भिक्षु को कठोरता से संघ के नियमों का पालन करना पड़ता था।

5.3 शिक्षण विधि-

बौद्ध शिक्षा का पाठ्यक्रम विस्तृत एवं उच्चकोटि का था। पाठ्यक्रम के विषयों को सम्यक् रूप में ग्राह्य बनाने के लिए विभिन्न प्रकार की शिक्षण विधियों का भी प्रयोग किया जाता था। आचार्यगण पूर्ण मनोयोग से भिन्न-भिन्न विषयों की शिक्षा भिन्न-भिन्न विधियों से देते थे। बौद्ध शिक्षा पद्धति में निम्नलिखित शिक्षण-विधियाँ प्रचलित थी-

(क) मौखिक विधि-

लेखन-मुद्रण कला के अभाव में आरम्भ में शिक्षा मौखिक ही दी जाती थी।[6] बौद्ध शिक्षा में भी इस विधि का महत्व बना रहा। स्वाभाविक है कि इस विधि में स्मरण शक्ति पर विशेष बल दिया जाता था। छात्र विषयों को कण्ठस्थ कर लिया करते थे। वे नित्य प्रति पठित पाठ की पुनरावृत्ति भी करते थे। इस प्रणाली से छात्र की स्मरण शक्ति प्रखर हो जाती थी।[7] जब तक पिछला पाठ कण्ठस्थ नही हो जाता था, तब तक नवीन पाठ का अध्ययन नही कराया जाता था। इत्सिंग ने स्मरण शक्ति बढ़ाने के लिए कतिपय ऐसी क्रियाओं का गूढ़ भाषा मे स्पष्ट रूप में वर्णन किया है जिसके 10 या 15 दिन के अभ्यास में ही विद्यार्थी यह अनुभव करने लगते थे कि उनमें विचारों का उत्स ही फूट निकला है और वे एक बार सुन लेने पर ही कुछ भी स्मरण कर लेते थे।[8] इत्सिंग स्वीकार करता है कि यह असत्य नही है, क्योंकि मैंने स्वयं ऐसे व्यक्तियों से भेंट की है। वस्तुतः जिस काल में पुस्तकें दुर्लभ रही हों स्मरण-शक्ति इस स्तर तक विकसित हो जाना आश्चर्य की बात नही है। इत्सिंग के अनुसार बौद्ध धर्म में शिक्षा का विशेष स्थान था

क्योंकि शिक्षा की उपेक्षा से धर्म-प्रसार संभव नही था।[9] शिक्षा-विधि के सम्बन्ध में वह कहता है कि "प्रतिदिन प्रात:काल मुख्य प्रक्षालन के अनन्तर विद्यार्थी को गुरु के पास आना चाहिए और मुख्य प्रक्षालन की सामग्री जुटानी चाहिए,....। उसके पश्चात् वह अपने अध्ययन किये हुए विषय को सुनाता है और कुछ नया ज्ञान प्राप्त करता है।"[10] एस0के0 दास महोदय ने इसमें तीन चरण बताये हैं-[11]

1. श्रुत 2. चिन्ता 3. भावना

(ख) पद्य-विधि-

यद्यपि प्राचीन भारत में विद्यार्थियों की स्मरण-शक्ति वर्तमान समय के विद्यार्थियों से अधिक विकसित थी, तथापि उस काल के लेखकों एवं विद्वानों ने इनका बोझ कम करने में कोई कसर शेष न रखी थी। वे यह जानते थे कि पद्य सौन्दर्यानुभूति के कारण याद करने में सहायक होता है और इससे किसी विषय को स्मरण करने में सुविधा होती है। अत: शिक्षा के क्षेत्र में इसके उपयोग के लिए उन्होंने सम्पूर्ण पाठ्य पुस्तकों को ही पद्य-बद्ध कर दिया था।[12]

(ग) सूत्र-विधि-

सूत्र-विधि का विकास सभी विद्यार्थियों के लाभार्थ ही हुआ था। उस समय स्मरण-शक्ति तथा धारण-शक्ति पर ही शिक्षा निर्भर करती थी। अत: मुख्य निष्कर्षों को छोटे-छोटे वाक्यों में सूत्र-बद्ध कर दिया गया था।

(घ) व्याख्या-विधि -

व्याकरण, दर्शन, आयुर्वेद जैसे गूढ़ विषयों का अध्ययन छात्र स्वतः नहीं कर सकते थे। इन विषयों को समझने के लिए कक्षाओं में आचार्यगण विस्तृत व्याख्यान दिया करते थे। सम्यक् रूप में समझ लेने पर विषय-छात्र को याद हो जाता था। समझ जाने पर रटने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। कतिपय व्याख्यायें तो टीकाओं में भी सम्मिलित कर ली जाती थी। दर्शन, काव्य और न्याय के कठिन विषयों का अध्यापन इसी विधि से किया जाता था। चीनी लेखकों के अनुसार भारतीय आचार्य अध्यापन एवं अभिव्यक्ति की कला में निपुण होते थे। चीन, कोरिया और सुदूरवर्ती देशों के विद्यार्थी यहाँ के आचार्यों द्वारा गूढ़ विषयों की व्याख्या सुनने के लिए आते थे। इस प्रकार की व्याख्या विश्व में अन्यत्र दुर्लभ थी। ह्वेन्त्सांग ने अपनी आचार्यों को इसलिए प्रशंसा नहीं की है कि उन्हें सम्पूर्ण निगम कंठस्थ थे, अपितु वह उनके कठिन अंशों की व्याख्या और शंकास्पद या विवादित स्थानों के लिए सटीक सुझाव उपस्थित करने की विलक्षण प्रतिभा से प्रभावित हुआ था।[13] इत्सिंग लिखता है कि भारतीय आचार्यों के मुख कमल से ज्ञान प्राप्त करने में मैं अपने को धन्य समझता हूँ, जो मेरे लिए अन्यत्र सुसम्भव था।[14] ह्वेन्त्सांग लिखता है कि अध्यापक अपने शिष्य को अर्थ सहित अनुवाद बता देते थे, सूक्ष्म अंशों को विस्तार पूर्वक व्याख्यापित करते थे, शिष्यों को क्रियाशील बनाने की प्रेरणा देते थे और बड़े ही कुशलता से उनका विकास करते थे। कुशाग्र बुद्धिवाले विद्यार्थियों को उपदेश देते थे और मन्द बुद्धि वाले विद्यार्थियों को कुशाग्र बनाते थे।''[150] यह शिक्षा की विधि- इस प्रकार थी कि विद्यार्थी केवल सिद्धान्त का ही नहीं, व्यवहार का भी ज्ञान हो जाता था।[16]

(ब) वाद-विवाद विधि-

शिक्षा के क्षेत्र में वाद-विवाद पद्धति का महत्व अति प्राचीन काल से रहा है। वाद-विवाद में विजयी होने वाले को पर्याप्त पुरस्कार भी दिये जाते थे।[17] पुरस्कार देने की बात ऋग्वेद में भी कही गयी है। वाद-विवाद की यह परम्परा बौद्ध शिक्षा पद्धति में भी अविच्छिन्न रूप से विद्यमान थी। इस पद्धति में प्रतिपादित विषय को सुलझाने, उसकी विशिष्टताओं एवं कमियों को प्रकाशित करने, ग्रन्थकार के उद्देश्य समझाने और विरोधियों की त्रुटियों को उद्घाटित करने का यत्न किया जाता था।[18] इससे छात्रों की वक्तृत्वशक्ति एवं विवेकशक्ति में वृद्धि होती थी।[19] साहित्य, काव्य, न्याय और दर्शन की शिक्षा मुख्य रूप से इसी पद्धति से दी जाती थी। छात्र परस्पर शास्त्रार्थ करते थे। आचार्य शास्त्रार्थ को सुनते थे। आवश्यकता पड़ने पर वे हस्तक्षेप भी करते थे। छात्र अपने पक्ष का मण्डन तथा प्रतिपक्ष के तर्कों का खण्डन करते थे। मण्डन-खण्डन की इस विधि से छात्रों में वक्तृत्व शक्ति एवं प्रत्युत्पन्न मतित्व का विकास होता था।[20] किन्हीं-किन्ही विद्यालयों में शिक्षण की एक मात्र पद्धति वाद-विवाद ही थी। दिवाकर सेन के निर्देशन में विभिन्न धर्म एवं दर्शन के विद्यार्थी अध्ययन करते थे जो अपने सम्प्रदाय की बात ध्यान से सुनते थे, उन पर मनन करते थे, उनकी विशिष्टताओं पर वाद-विवाद करते थे, गूढ़ विषयों पर शंका उपस्थित करते थे तथा विरोधियों से शास्त्रार्थ करते थे। अन्य संस्थाओं में भी शिक्षा विधि का यही ढंग रहा होगा। बौद्ध पद्धति में इस विधि की प्रधानता थी क्योंकि बौद्धों को प्रायः विरोधियों से शास्त्रार्थ करने पड़ते थे। इस विधि द्वारा अध्यापन करने से छात्र में तर्क शक्ति, बुद्धि एवं शब्द-सामर्थ्य की वृद्धि होती थी।[21]

(छ) गुरु-शिष्य-संवाद-विधि-

उपनिषदों एवं बौद्ध सूत्रों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि गुरु-शिष्य-संवाद के रूप में भी व्याख्यान दिये जाते थे। इस विधि में अध्यापक को विद्यार्थी पर अपने व्याख्यान के प्रभाव को समझने का पूर्ण अवसर मिलता था। इस विधि में प्रारम्भ में छात्र अपना मत रखता है, आवश्यकतानुसार अध्यापक उसका खण्डन करता है यथा, नागसेन तथा मिलिन्द का संवाद।

(ज) निरीक्षण एवं तुलना-विधि-

अध्यापक मन्द बुद्धि, अप्रतिभावान विद्यार्थियों को नये तथ्यों के निरीक्षण और प्राचीन से उसकी तुलना करने को कहते थे। इस प्रकार विद्यार्थियों की बोध-शक्ति का विकास किया जाता था। अतः निरीक्षण एवं तुलना का महत्व भी प्राचीन भारतीय आचार्यों को ज्ञात था।[22]

(झ) वैयक्तिक शिक्षा-विधि-

बौद्ध शिक्षा-दर्शन की प्रधान विशेषता थी प्रत्येक छात्र की प्रगति का पृथक्-पृथक ध्यान देना।[23] ऐसा संभव भी था क्योंकि उस समय आचार्य एवं शिष्यों का अनुपात 1:15 से अधिक न रहा होगा। वर्तमान समय में प्रायः कक्षाओं में 100 से अधिक छात्र एक साथ अध्ययन करते है। ऐसी स्थिति में विषय को समझ पाना तो दूर रहा आधे छात्र अध्यापक के कथन को सुन भी नहीं पाते। बौद्ध शिक्षा में यह अव्यवस्था न थी। उस समय वार्षिक या अर्द्धवार्षिक परीक्षायें तो होती न थी, हाँ! दैनिक परीक्षायें अवश्य होती थीं। लेकिन दैनिक परीक्षा से अगली कक्षा में प्रोन्नत देने जैसी बात न थी। बल्कि

यह परीक्षा प्रश्नोत्तर द्वारा मौखिक होती थी तथा इससे छात्र को विषय कण्ठस्थ हो जाता था। जब तक विषय कण्ठस्थ नहीं हो जाता था, तब तक अगला अध्याय आरम्भ नहीं किया जाता था।[24] जो छात्र पाठ याद कर लेते थे उन्हें अगला पाठ पढ़ाया जाता था। इस प्रकार बौद्ध शिक्षा प्रणाली में प्रतिभाशाली छात्र का समय नष्ट नहीं होता था। साथ ही मन्द बुद्धि बालक की उपेक्षा भी नहीं होती थी। आलसी तथा असावधान छात्रों को भी आनन्द लेने के लिए नहीं छूट दी जाती थी। उन्हें भी आचार्य तब तक अध्ययन कराते थे जब तक वे अध्ययन समाप्त न कर लेते थे। इस प्रकार बौद्ध शिक्षा व्यवस्था में सभी छात्रों को समान रूप से देखा जाता था तथा उन्हें सम्यक् अध्ययन कराया जाता था। ह्वेन्त्सांग लिखता है कि यदि कोई प्रतिभाशाली विद्यार्थी आलस्य के कारण जी चुराता तो आचार्य हठपूर्वक उसे तब तक पुनः पुनः पढ़ाते थे, जब तक उसका अध्ययन समाप्त नहीं हो जाता था।[25] चीनी यात्री ने कर्म के लिए विद्यार्थियों को प्रोत्साहन देने तथा उनकी प्रगति का निरन्तर ध्यान रखने के लिए भारतीय आचार्यो की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

(ट) अग्रशिष्य शिक्षा-विधि-

शिक्षा के क्षेत्र में विद्यार्थियों के पृथक-पृथक् निरीक्षण निरीक्षण को और भी प्रभावी बनाने के लिए बौद्ध शिक्षा प्रणाली में उच्च कक्षाओं के बुद्धिमान छात्रों की सहायता ली जाती थी नये विद्यार्थियों की शिक्षा की देख-रेख वे करते थे, वैसे आचार्य सभी विद्यार्थियों की शिक्षा-दीक्षा का निरीक्षण करता था। आपस्तम्ब का वचन है कि ऐसे विद्यार्थियों का, जिनको वह बुद्धतर ब्रहमचारी कहते हैं, सम्मान आचार्य के सदृश ही होना चाहिए।

बुद्धतरे स ब्रहमचारिणीः आचार्यवदवृत्तिः ।[26]

तथा समादिष्टोप्यध्यापयति ।

वल्लभी के विद्यार्थियों के सम्बन्ध में इत्सिंग ने लिखा है कि वे दो तीन वर्ष अपने आचार्यों से पढ़ने और अन्या विद्यार्थियों को पढ़ाने में बिताये थे।[27] तक्षशिला के वृद्धतर ब्रहमचारिथ, काशी के धुवराज को पढ़ाते थे।[28]

तक्षशिला में आर्चाय की अनुपस्थिति में उनका अग्रशिष्य ही गुरू कुल का प्रधान होता था।[29] इस प्रकार प्रतिभाशाली छात्र को अध्यापन का अवसर देने से उसमे अध्यापन कला का विकास तो होता ही था साथ ही उसके विषय का परिमार्जन भी होता था। इस व्यवस्था में छात्र में आत्म-सम्मान का विकास होता था तथा शिक्षण संस्था को एक सुयोग्य निःशुल्क शिक्षक भी उपलब्ध हो जाया करता था। वस्तुतः यह प्रणाली वर्तमान प्रशिक्षण महाविद्यालयों के सदृश अध्यापक प्रशिक्षण का कार्य करती थी।

(ठ) कथा-विधि-

कभी-कभी सिद्धान्तो की व्याख्या में कथा आध्यापिकाओं की भी सहायता ली जाती थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध शिक्षा में विषय एवं छात्रों के अनुरूप शिक्षण-विधियों की संख्या इतनी अधिक थी। उस समय स्मरण शक्ति पर विशेष बल दिया जाता था। बौद्ध शिक्षा पद्धति में चिन्तन, मनन, विश्लेषण आदि को प्रोत्साहन दिया जाता था। दर्शन के विद्यार्थी को विशेष रूप से तर्क एवं चिन्तर का अवसर दिया जाता था। गूढ़ विषयों की स्पष्ट व्याख्या तथा शंकास्पद समस्याओं का स्पष्ट समाधान इस युग के आचार्यों की प्रधान विशेषता थी जिसके लिए वे विश्व विख्यात थे। इस युग में प्रत्येक विद्यार्थी

की प्रगति का ध्यान रखा जाता था। उच्च शिक्षा के लिए वाद-विवाद आदर्श शिक्षण-विधि मानी जाती थी।

5.4 छात्र -संकल्पना

प्राचीन काल में गुरूकुल प्रणाली थी। घरों से बहुत दूर अरण्यों में वे स्थापित हुआ करते थे। बौद्ध युग में भी गुरूकुल प्रथा विद्यमान थी। मठ, बिहार एवं संघों का कार्य भी गुरूकुलों का ही था। ये पर्वतों, गुफाओं के मध्य स्थापित होते थे जो एकान्त तथा निरापद होते थे। जातकों से विदित होता है कि आचार्य गण काशी जैसे भव्य नगरों का परित्याग कर हिमालय की कन्दराओं में चले जाते थे।[30] गुरूकुल में रहते हुए विद्यार्थी सादा जीवन व्यतीत करते थे। उन्हे कठोर अनुशासन में रहना होता था, घर जाने की अनुमति नहीं होती थी तथा असुविधाओं के बीच रहना पड़ता था। वहाँ रहन-सहन, आहार-बिहार का ऐसा क्रम निर्धरित था जिससे धनी-निर्धन का अन्तर न दिखायी पड़े। छात्र सुसम्पन्न परिवारों जैसी सुविधायें नहीं प्राप्त कर पाते थे। यही नहीं गुरूकुल व्यवस्था सम्बन्धी अनेक कार्य अपने श्रम से मिल जुलकर छात्रों को ही करने पड़ते थे। इस प्रकार गुरूकुल प्रथा सुसम्पन्न परिवार के दुर्दलित बालकों को ठीक करती थी और विद्यार्थियों को अधिक दक्ष, आत्मनिर्भर तथा व्यवहार चतुर बना देती थी।

पौराणिक राजानों पुत्ते एवं एतेनिहतमानदप्या
सीतणहक्खमा लोकचरित्क्जू भविस्संति अन्तनोनगरे द
सामामाक्श आचारिये विज्जमानेपि सिप्पुग्गहणत्याय
दूरे तिरोरट्ठं पेसंति।[31]

गुरुकुलों के इस प्रकार असुविधाओं से भरे होते हुए भी दूर-दूर क्षेत्रों के विचारशील व्यक्ति अपने बालकों को बड़ी उत्कण्ठा से उनमें प्रवेश कराते थे। अपने बालकों को आँखों के आगे सुविधाओं के बीच रखने की स्वाभाविक इच्छाओं पर नियंत्रण रखते हुए छाती पर पत्थर रखकर फूल से बच्चों को कष्ट साध्य जीवन में प्रसन्नतापूर्वक भेजते थे।

गुरुकुलों में विद्यार्थियों को अनेक नियमों का पालन करना पड़ता था। विद्यार्थी प्रातः काल के पूर्व ही शैय्या का त्याग कर देते थे, नित्य क्रिया के पश्चात् दत्तचित्त होकर अध्ययन करते थे। अध्ययन के पश्चात् भोजन तथा विश्राम की व्यवस्था थीं। पुनः मध्याह्न के बाद अध्ययन किया जाता था। सन्ध्योपासन के बाद पुनः रात्रि का भोजन करके गुरु की सेवा और आज्ञा लेकर विद्यार्थी शयन करते थे। गुरु की आज्ञा पालन करना छात्र का प्रमुख कर्तव्य था।

विद्यार्थी जीवन में भिक्षाटन द्वारा भोजन प्राप्त करना एक महत्वपूर्ण नियम था। भिक्षाटन के नियम से विश्व बन्धुत्व और समता की भावना का स्वतः प्रस्फुरण होता रहा होगा। विद्यार्थियों का दूसरा प्रमुख कार्य समिधा एकत्र करना और अग्नि प्रज्जवलित करना था। अग्नि प्रज्जवलित करने के बाद ही वह भोजन करता था।

इत्सिंग ने बताया है कि शिष्यों को उपदेश देना, शिक्षित करना धर्म की अभिवृद्धि के लिए अति-आवश्यक था।[32] वह पुनः लिखता है कि प्रातः काल दातुन करने के पश्चात् गुरु के पास आकर उन्हें भी दातुन देना चाहिए।[33] आवश्यकता पड़ने पर आचार्य भी शिष्य की सहायता करने के लिए

उद्यत रहा करते थे। शिष्य के रुग्ण होने पर गुरु उसकी सेवा करता था, औषधि आदि देता था, जैसे कि वह उनका ही आत्मज हो।[34]

युवावस्था में मांस-मदिरा, मिष्ठान्न, आभूषण आदि की ओर विशेष आकर्षण रहता है। इनके सेवन से कामवासना उदीप्त होती है। अतः विद्यार्थियों के लिए इनका सेवन वर्जित कर दिया गया था। उन्हें धन रखने की भी अनुमति नहीं दी जाती थी यह जुन्ह जातक की एक कथा से स्पष्ट हो जाता है।[35]

छात्र जीवन का आदर्श जीवन में सादगी तथा विचारों की उदात्तता माना गया था। अतः छात्रों को अपने केश मुड़वा देने होते थे। सुगंधित द्रव्यों का सेवन वर्जित था। छात्रों के लिए जूता, छाता या कोमल विस्तर पर सोना वर्जित था। अभिप्राय यह था कि छात्र इतने कोमल न हो जायें कि बिना जूते के रास्ते में न चल सकें। कंटीले जंगलों से यज्ञ की समिधा चुनने तथा उत्तर भारत की मरुभूमि को पारकर अध्ययन के लिए तक्षशिला जाने वाले विद्यार्थियों को जूतों व छात्रों के उपयोग की अनुमति थी।[36]

चरक के अनुसार राजा, माता, पिता या देवता की भाँति गुरु का सम्मान करना छात्रों का परम कर्तव्य था[37]-

तमग्निवच्च देवच्च राजवच्च पितृवच्च मातृवच्च

प्रमतः परिचरेत्।

जैसे कोई पुत्र पिता, अर्थीदगता की, या दास अपने स्वामी की सेवा करता है, उसी प्रकार बौद्ध बिहारों में छात्र आचार्यो की सेवा करते थे।

आवश्यकता पड़ने पर छात्र को आचार्य के बर्तन एवं वस्त्र भी साफ करने पड़ते थे।[38]

महावग्ग, मिलिन्दपन्ह, दिव्यावदान में गुरु तथा शिष्य के पृथक-पृथक् कर्तव्यों का वर्णन किया गया है। मिलिन्द पन्ह में अन्तेवासी का गुरु के प्रति कर्तव्य तथा उनके परस्पर सम्बन्धों का सुन्दर उल्लेख किया गया है। मिलिन्द पन्ह के अनुसार शिष्य में दस गुणों का होना अनिवार्य है-

1. सुख-दुख को समान समझे।
2. गुरु आदेश से धर्म का पालन करे।
3. जो दे सकता है प्रसन्नता से दे।
4. धर्म को गिरते देख उसे उठाने का प्रयास करे।
5. सदैव ही अपने विचारें को ठीक रखे।
6. उत्तेजना के भाव से किसी अन्य गुरु के पास न जाय।
7. अपने मन, वाणी तथा कर्म पर नियंत्रण रखे।
8. शान्तिगामी हो।
9. उसमें वैमनस्य का अभाव हो और धार्मिक व्यवहार में भी लड़ने की भावना न हो।
10. बुद्ध, धम्म, संघ में आसक्ति हो।

जहाँ एक ओर यह कहा गया है कि बिहारों में विद्यार्थियों को कठोर परिश्रम करने पड़ते थे, वहीं यह भी प्रमाण मिलता है कि तक्षशिला में

जो छात्र गुरुदक्षिणा अग्रिम चुका देते थे, उनसे गृहस्थी का कोई काम न लिया जाता था। ऐसे शिष्य आचार्य के घरों में उनके ज्येष्ठ पुत्र की भाइति रहते थे, ऐसा जातकों से स्पष्ट है।[39] इसी प्रकार शुल्क न देने वाले विद्यार्थियों से गृहस्थी के कार्य कराये जाते थे। मुक्त-शुल्क विद्यार्थी को ''धम्मान्तेवासी'' कहा गया है। ये छात्र दिन में आचार्य के खेतों में या घर पर काम करते थे तथा इन्हें रात में पढ़ाया जाता था।[40]

धमतेवासिका आचारिय रस कम्भं कत्वरतिं

सिप्पयुग्गणहन्ति आचारिय भाग दायका गेहे

जेठपुत्ता वियहत्वा सिप्पमेव उग्गण्हन्ति।

शिष्यों में इस प्रकार का भेद बौद्ध शिक्षा की अपनी विशेषता है। ब्राह्मण शिक्षा में ऐसा नहीं था।

छात्रों को किसी की निन्दा करना वर्जित था। किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि छात्रों को आचार्यो के दुर्गुणों के प्रति आँखें बन्द करने को कहा जाता था। गौतम बुद्ध गुरु के प्रति उच्च सम्मान का उपदेश करते हैं, पर साथ ही यह भी व्यवस्था देते हैं कि आचार्य में बुराइयाँ हों तो शिष्य उनकी ओर एकान्त में आचार्य का ध्यान आकर्षित करें तथा यदि उनकी दृष्टि बुरे कार्यो में लग गयी हो तो शिष्य का कर्तव्य है कि आचार्य को बुरे रास्ते पर जाने से रोके।[41] यदि आचार्य धर्माचरण से च्युत हो जाय तो शिष्य उनकी आज्ञा मानने या न मानने को स्वतंत्र है। आचार्य को इस बात का भी अधिकार न था कि वह शिष्य को कोई आज्ञा दे जिसके पालन से उसका

जीवन खतरे में पड़ जाय या जो धर्म के विधान के प्रतिकूल हो। ऐसी व्यवस्था ब्राह्मण शिक्षा प्रणाली में नहीं थी। यह बौद्ध शिक्षा प्रणाली की अपनी निजी विशेषता है।

5.5 अध्यापक संकल्पना

वर्तमान समय में शिक्षण संस्थाओं एवं विश्व विद्यालयों को जो स्थान प्राप्त है, प्राचीन भारत में वही महत्व आचार्य का था। आचार्य अकेले एक शिक्षण संस्था से कम न था। बौद्ध शिक्षा में भी आचार्य को समान आदर प्रदान किया गया था। आचार्य को यह सम्मान देना स्वाभाविक ही था क्योंकि विद्यालय के भवन में साज सज्जा का छात्र पर उतना प्रभाव नहीं पड़ता जितना कि एक योग्य एवं सदाचारी आचार्य का जो उसे उपदेश एवं प्रेरणा देते है।

जिस प्रकार विद्यार्थी में विनय की अपेक्षा की जाती थी उसी तरह आचार्य में विद्वता, श्रेष्ठ चरित्र एवं स्नेह वांछनीय था। शिष्य के प्रति गुरु का कर्तव्य था कि वह अपने शिष्य को अन्धकार से प्रकाश की ओर लाये। गुरु विद्यार्थियों से कोई विद्या गोपनीय नहीं रखता था।[42] शिष्य के नैतिक आचरण पर गुरु की दृष्टि और नियंत्रण आवश्यक था। इत्सिंग ने लिखा है कि उस आचार्य से कसाई अच्छा है जो दीक्षित होने के बाद शिष्य को अशिक्षित ही रहने दे।[43] पुनः इत्सिंग ने लिखा है कि जो गुरु अच्छी तरह शिक्षा नहीं दे सकते हैं ईश्वरीय नियम का उल्लंघन करते हैं, अतः निश्चित ही वे नरक के भागी होते हैं। अध्यापक में वक्तृत्व शक्ति, तर्कशक्ति और कठिन से कठिन

विषयों को समझाने की क्षमता अपेक्षित थी। योग्य गुरु की शिक्षा से शिष्य में विद्या बढ़ती है, ऐसी धारण थी।

महावग्ग, दिव्यावदान तथा मिलिन्द पन्ह में आचार्य के गुणों को बताया गया है। बुद्ध ने यह नियमित रूप से कह दिया था कि उपाध्याय ''उपशून्य'' सविहारिक को पुत्रवत तथा वह विद्यार्थी अपने गुरु को पितातुल्य समझे। वे दोनों एक दूसरे का आदर विश्वास तथा सामान्य जीवन ध्येय द्वारा धर्म और विनय में पूर्णतया प्रगति कर उच्च श्रेणी पर पहुँच सकेंगे। मिलिन्द पन्हों के अनुसार आचार्य में पचीस गुण होने चाहिए।

1. आचार्य को सदा शिष्य का भार नि:संकोच रूप से लेना चाहिए।
2. वह शिष्य को सेवन तथा निषेध की वस्तु बता दें।
3. शिष्य किसमें आसक्त हो, किसका परित्याग करें, यह बता दें
4. शयन, भोजन, स्वाध्याय एवं स्वास्थ्य के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान दें।
5. शिष्य को अच्छे बुरे का ज्ञान दें।
6. भिक्षु-पात्र में जो मिले उसे शिष्य के साथ बाँट लें।
7. उसे भयभीत होने का आदेश दें।
8. उसको अपनी शिक्षा का ध्येय बतावें।
9. शिष्य-किन-किन का साथ करें, यह बतावें।

10. उसे किन गाँवों व बिहारों में जाना चाहिए यह बतावें।
11. आचार्य शिष्य के साथ हंसी, ठठ्ठा, प्रगल्भ न करें।
12. आचार्य शिष्य के साथ आलाप न करें।
13. दोष के लिए क्षमा मांगे।
14. आचार्य में उत्साह हों।
15. खण्डित शिक्षा कभी न दें।
16. अधूरा पाठ न पढ़ावें।
17. शिष्य से कुछ न छिपावें।
18. उसे पुत्रवत समझें।
19. उसे आगे बढ़ाने का प्रयास करें।
20. उसे पीछे हटने से रोकें।
21. उसे बल प्रदान करें।
22. उसे स्नेह दृष्टि से देखें।
23. आपदा में उसका त्याग न करें
24. उसकी ओर से ध्यान न हटावें।
25. धर्माचरण के साथ रहें।

महावग्ग में भी गुरु-शिष्य के मध्य पिता-पुत्र की कल्पना की गयी है। उसके अनुसार आचार्य शिष्य का मानस पिता है-

पुत्रमिवैनमभिनकांक्षन्[44]

5.6 सतत् शिक्षा/ प्रौढ़ शिक्षा

बौद्ध शिक्षा दर्शन में सतत शिक्षा को आजीवन शिक्षा के पर्याय के रुप में देखा जा सकता है। कहा गया है कि मित्र और ब्राह्मण की हत्या से जो पाप होता है, वही पाप एक बार पढ़े हुए पाठ को विस्मृत कर देने से होता है। कदाचित इसीलिए बुद्ध ने भिक्षुओं के लिए जीवन पर्यन्त शिक्षा की कल्पना की थी। वस्तुत: बौद्ध विद्वान इस तथ्य से अवगत थे कि परिस्थितियाँ बदलती रहती हैं और परिवर्तित परिस्थिति में सामाजिक सामंजस्य स्थापित करने में शिक्षा महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। दूसरे, अधीत ज्ञान के भूल जाने का भी भय था। वर्तमान समय में जब कि सस्ती पुस्तकें एवं पुस्तकालय सुलभ है, विद्यार्थी अल्पकाल में ही सारी विद्या भूल जाते हैं। प्राचीन काल में जब पुस्तकें दुर्लभ एवं बहुमूल्य थीं तब इस बात का भय और भी था। इसीलिए बौद्ध आचार्य गण आग्रह करते हैं कि प्रत्येक ''स्नातक'' को पढ़े हुए ग्रन्थों के किसी न किसी अंश की आवृत्ति प्रतिदिन नियमित रूप से करनी चाहिए। इसी को स्वाध्याय भी कहा जाता था। अत: स्वाध्याय ही सतत शिक्षा है। समावर्तन (उपसम्पदा) के समय आचार्य स्वध्याय में प्रमाद न करने के लिए विशेष रूप से उपदेश करता था।

बौद्ध भिक्षु आजीवन अध्ययन के कार्य में संलग्न रहते थे क्योंकि उनके अध्ययन में विवाह जैसी कोई बाधा नहीं थी।[45] कदाचित इसीलिए उनके लिए पृथक पाठ्यक्रम था जो अपेक्षाकृत काफी विस्तृत था। उन्हें पिटक, अश्वघोष की बुद्धचरित्, नागार्जुन की जातक माला, योगाचारशास्त्र, आदि का अध्ययन कराया जाता था। नालंदा में बौद्ध भिक्षुओं के शिक्षा के सम्बन्ध में

हुई ली ने लिखा है कि ''भिक्षु महायान शाखा, हीनयान की 18 शाखाओं, वेद, हेतु विद्या, शब्द विद्या, चिकित्सा विद्या, सांख्य एवं अन्य साहित्यिक ग्रन्थों का अध्ययन करते थे।''

जातकों से ज्ञात होता है कि देशाटन से भी उपासक शिक्षा ग्रहण करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि शिक्षा ग्रहण करने की यह विधि आजीवन शिक्षा प्राप्त करने वाले शिष्यों के लिए ही थी। क्योंकि देशाटन का उल्लेख उप सम्पदा के बाद ही किया गया है। ये देशाटन एक प्रकार के शैक्षिक भ्रमण ही रहे होंगे। शैक्षिक भ्रमणों से विद्यार्थी देशचरित का ज्ञान प्राप्त करता था तथा विशेषतया वह उस व्यवसाय की परम्पराओं का परिचय प्राप्त करता था जिसमें उसने कौशल लाभ किया था-

सब्ब सिप्पानि उग्गहीत्वा सब्ब समय सिप्पं च
सिक्खिसाम देस चरितं च जानिस्साम इति गामनि
गमादिपु चरता वाराणसी पात्वा।[46]

बौद्ध परम्परा में मनुष्य का परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति थी। मोक्ष की प्राप्ति से ही दुःख का अन्त सम्भव है। मोक्ष- की प्राप्ति या तो गहन तप, साधना से होती है या ज्ञान प्राप्त कर लेने से। सामान्यतया विद्यार्थी जीवन की आयु 25 वर्ष होती थी, किन्तु कुछ उपासक जीवन पर्यन्त सतत अध्ययन में लगे रहते थे। इनका उद्देश्य और कुछ नहीं, ज्ञान प्राप्ति से मोक्ष प्राप्ति था। मानापमान से परे रहकर इस संसार की माया से दूर वे अपने अनुष्ठान में लगे रहते थे। कभी-कभी ये वेद एवं शिल्प में निष्णात होकर हिमालय पर

चले जाते थे। इनका एक मात्र लक्ष्य था विद्या प्राप्ति। ह्वेन्त्सांग लिखता है कि "सारे कष्टों को भूलकर ये साहित्य और विज्ञान में अपनी प्रवीणता बढ़ाते ही रहते थे। 1000 ली (200 मील) की यात्रा भी उन्हें कुछ न मालूम पड़ती थी। धनाढय कुल में जन्म लेकर भी वे परिब्राजक हो जाते थे और भिक्षा मांगकर पेट पालते थे। सत्य के ज्ञान में ही वे प्रतिष्ठा मानते थे, दारिद्रय में अपमान नहीं।"[47]

सिद्धान्ततः उप सम्पदा के पश्चात् दीक्षान्त हो जाता था। किन्तु इसके पश्चात भी शिक्षा सतत् चलती रहती थी तथा गुरु-शिष्य सम्बन्ध प्रगाढ़ रूप में बने रहते थे। धार्मिक अवसरों पर शिष्य आचार्यों को आमंत्रित करते थे उन्हें उपहार देते थे, दक्षिणा देते थे। आचार्य अपने शिष्यों से स्वाध्याय के विषय में पूछताछ किया करते थे।[48] अनभिरति जातक में एक ऐसा ही शिष्य अपने आचार्य को सूचित करता है कि समावर्तन के कुछ समय बाद तक मेरा अध्ययन क्रम चलता रहा, वह विवाह के बाद मुझे कुछ वैदिक मंत्र विस्मृत हो गये हैं। शीघ्र ही कंठस्थ कर मैं पुनः स्वाध्याय आरम्भ कर दूंगा।[49] इसी प्रकार दीक्षान्त के बाद भी व्यक्ति गृहस्थाश्रम में रहते हुए निरंतर स्वाध्याय करता रहता था। इस जातक कथा से स्पष्ट है कि सतत शिक्षा, यद्यपि भिक्षुओं के लिए अनिवार्य थी, किन्तु जन साधारण में भी प्रचलित थी।

संदर्भ-

1. मिलिन्द पन्ह, भाग 1, पृष्ठ 142

2. मज्झिम निकाय, भाग 2, पृष्ठ 103

3. ललित विस्तर, बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावली, दरभंगा, 1958, अध्याय 10

4. इत्सिंग, ए रिकार्ड आफ दि बुद्धिस्ट रीविजन एज प्रेक्टाइज्ड इन इण्डिया एण्ड दि मलय आर्किपिलैगो, तपा-बुसु का अंग्रेजी अनुवाद, बुद्धिस्ट, प्रैक्टिसेस इन इण्डिया, लन्दन, 1896, पृष्ठ 171.72

5. वाटर्स, आनह्वेन्त्सांग ट्रैवेल्स इन इण्डिया, दिल्ली भाग 1, पृ0 154-55, 1961

6. आर0 के0 मुकर्जी, ऐशेण्ड इण्डियन एजूकेशन, मैकमिलन एण्ड कम्पनी, दिल्ली, 1960, पृष्ठ 211

7. ए0 एस0 अल्तेकर, पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृष्ठ 122

8. इत्सिंग, पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृष्ठ 183

9. इत्सिंग, पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृष्ठ 116

10. इत्सिंग, पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृष्ठ 117

11. एस0 के0 दास, पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृष्ठ 178

12. ए0 एस0 अल्तेकर, पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृष्ठ 122

13. बील, पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृष्ठ 76, 154, 160

14. इत्सिंग, पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृष्ठ 185

15. वाटर्स, पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृष्ठ 160

16. वाटर्स, पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृष्ठ 159

17. मिलिन्द प्रश्न, भाग 1, पृष्ठ 185

18. मिलिन्द प्रश्न, भाग 1, पृष्ठ 46

19. वाटर्स, पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृष्ठ 162

20. ए0 एस0 अल्तेकर, पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृष्ठ 124

21. आर0 के0 मुकर्जी, पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृष्ठ 452

22. जातक, सं0 124

23. ए0 एस0 अल्तेकर, पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृष्ठ 125

24. मिलिन्द प्रश्न, भाग 1, पृष्ठ 18

25. वाटर्स, पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृष्ठ 160

26. आपस्तम्ब धर्म सूत्र, 2.7.27

27. इत्सिंग, पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृष्ठ 177

28. सुत सोम जातक, सं0 537

29. सुखविहारी जातक, सं0 10

30. जातक, सं0 438

31. तिल भृद्धि जातक, सं0 452

32. इत्सिंग, पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृष्ठ 116

33. इत्सिंग, पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृष्ठ 116

34. इत्सिंग, पूर्वोक्त ग्रंथ, पृष्ठ 121

35. जुन्ह जातक, ''काशी के एक राजकुमार से एक ब्राह्मण का भिक्षापात्र टूट गया। उसने प्रतिज्ञा की कि बदले में मैं इसे दूसरा पात्र दूंगा पर यह तभी संभव है, जब मैं स्वदेश लौटूं। अत सिद्ध है कि उन्हें जेब खर्च तक भी नहीं मिलता था।

36. तिलमुट्ठि जातक, सं0 152

37. चरक संहिता, विमान स्थान, 8.4

38. गुणग जातक, सं0 157

39. ए0 एस0 अल्तेकर, पूर्वोक्त ग्रंथ, पृष्ठ 46

40. तिलमुठ्ठिजातक, सं0 252

41. महावग्ग, 1=25, 11-21

42. मिलिन्द पन्ह, भाग 1, पृष्ठ 142

43. इत्सिंग, पूर्वोक्त ग्रंथ, पृष्ठ 116

44. महावग्ग, 1.32

45. ए0 एस0 अल्तेकर, एजूकेशन इन ऐशेण्ट इण्डिया, वाराणसी, 1948, पृष्ठ 228-29

46. दरीमुख जातक, सं0 378

47. वाटर्स, पूर्वोक्त, ग्रन्थ, पृष्ठ 160

48. जातक, सं0 378

49. अनभिरति जातक, 185

अध्याय–पाँच

निष्कर्ष एवं सुझाव

जगत के उत्तम शास्ता परम कारूणिक भगवान बुद्ध की शिक्षा बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय, लोकाय उकम्पाय की भावना से अनुप्राणित है। बौद्ध धर्म त्रिधा विभक्त है- परियन्ती, प्रतिपत्ती और प्रतिवेद इनमें से भगवान बुद्ध द्वारा उपदिष्ट धर्म परियन्ती नामक सद्धर्म है, यही बुद्ध शासन की प्रमुख आधारशिला है। इस परियत्त धर्म के होने पर ही अन्य प्रतिपत्ती और प्रतिवेद धर्म भी स्थित हो सकते है। नही होने पर नही रह सकते है। इसलिए अंगुतर निकाय की अट्ठकथा में भी कहा गया है-

"सुत्तन्तेपु असन्तेपु पमुट्ठे बिनयम्हि च।

तमो भवि स्मति लोको सुरिये अत्यङ्गते यथा।

सुत्तन्ते रक्खिते सन्ते पतिपत्ति इति रक्खित रक्खिता।

पतिपत्तियं ठितो धीरो योगक्सेमा न घसन्ति।"

अर्थातृ सुत्रान्तों के न होने पर और विनय के विनष्ट हो जाने पर यह लोक उसी प्रकार अन्धकार पूर्ण हो जायेगा जिस प्रकार सूर्य के अस्त हो जाने पर होता है। सूत्रान्तों के सुरक्षित रहने पर प्रतिपत्ती भी सुरक्षित रहती है और प्रतिपत्ती के स्थित धीर पुरुष योगक्षेत्र से परिभ्रष्ट नही होता।

भगवान बुद्ध की शिक्षा तीन प्रकार की है अतः उनकी दृष्टि से पिटक भी तीन ही होते है यथा अधिशील शिक्षा, अधिचित्त शिक्षा और अधिप्रज्ञ शिक्षा। विनय पिटक में विशेष रूप से अधिशील शिक्षा का ही प्रतिपादन किया गया है। सूत्रपिटक में प्रधान रूप से अधिचित्त शिक्षा का ही उल्लेख है तथा अभिधर्म पिटक में मुख्य रूप से अधिप्रज्ञ शिक्षा ही अभिहीत है। बौद्ध

शिक्षा एवं आधुनिक शिक्षा पद्धति में यद्यपि अमूल परिवर्तन हुआ है फिर भी किन्ही-किन्ही बिन्दुओं पर समानता भी परिलक्षित होता है। पूरे शोध प्रबन्ध में बौद्ध शिक्षा एवं आधुनिक शिक्षा का आलोडन बिलोडन पुरस्सर सुक्ष्माति सुक्ष्म तकनीनी शिक्षाओं सहित प्राच्य पाश्चात्य उभय विधि मौलिक दूरवर्ती, सर्वजन, सुखाय, सर्वजन हिताय की तौलनिक मध्यमान प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में किया गया है फिर भी किञ्चित निदर्शन रूप में आधुनिक शिक्षा पद्धति एवं बौद्ध शिक्षा पद्धति को निष्कर्ष रूप में यहाँ दर्शाया गया है।

व्यक्ति के भावी जीवन की दिशा तथा मानव समाज की संरचना मूलतः शिक्षा पर आधारित है। अतएव इसका स्वरूप इतना व्यापक होना आवश्यक है जिससे इसके माध्यम से उन अपेक्षाओं एवं उद्देश्यों की पूर्ति करना संभव हो सके जो समयानुकूल वांछित हों। वर्तमान समय में विश्व के बहु आयामी विकास की गति इतनी तीव्र है तथा सीमा इतनी अबोध है कि इसके साथ तीव्रता से पग मिलाकर चलना तथा सीमा के समीप पहुँचना कभी-कभी दुरूह कार्य सा प्रतीत होने लगता है। समय-समय पर शिक्षा के स्वरूप में परिवर्तन तथा समायोजन ही ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा इस दिशा में कुछ सहायता मिल सकती है। आधुनिक शिक्षा प्रणाली के स्वरूप निर्धारण में प्राचीन बौद्ध शिक्षा की उपयोगिता असंदिग्ध है।

अपने देश के शिक्षा के स्वरूप तथा इसकी व्यवस्था में समय-समय पर परिवर्तन तो किये जाते रहे हैं, लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि जिस सुदृढ़ ढांचे की नींव डेढ़ सौ वर्ष पूर्व लार्ड मैकाले ने डाली थी उसमें

कोई मूलभूत परिवर्तन आज तक या तो किया ही नहीं गया है या उसकी कोशिश ही नहीं की गयी है। देश के पूर्व प्रधानमंत्री जी को शत्-शत् धन्यवाद है जिन्होंने स्वतंत्रता के बाद पहली बार शिक्षा में मूलभूत परिवर्तन की बात कही। यह परिवर्तित शिक्षा पद्धति मैकाले की नीवं पर बनी शिक्षा पद्धति से भिन्न होगी और एक स्वाभिमानी राष्ट्र की प्राचीन संस्कृति और गौरव के अनुरूप होगी।

शिक्षा के द्वारा जिन सुधारों की हम अपेक्षा कर रहे हैं उनको संभव बनाने के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षा के उद्देश्यों को हम सरल शब्दों में व्यक्त करें ताकि उनकी जानकारी देश के प्रत्येक अभिभावक, शिक्षक, व विद्यार्थी को हो सके। उद्देश्यों के निर्धारण में बौद्ध शिक्षा दर्शनकी सहायता ली जा सकती है। शिक्षा के उद्देश्यों पर यूँ तो कई पृष्ठ लिखे जा सकते हैं और लम्बे भाषण भी दिये जा सकते हैं। लेकिन उसे सरल शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है-

"शिक्षा का उद्देश्य है स्वस्थ शरीर, स्वच्छ मन एवं सभ्य समाज का निर्माण। उसके द्वारा विद्यार्थी में आत्म-निर्माण की क्षमता से आत्म-विश्वास हो ताकि वह आत्म-निर्भर हो सके।"

स्पष्ट है कि आत्म-निर्माण, आत्म-विश्वास, आत्म-निर्भरता एवं चरित्र तथा व्यक्तित्व का विकास ही बौद्ध शिक्षा के उद्देश्य रहे हैं । इस प्रकार बौद्ध शिक्षा के तत्वों को ग्रहण करके आधुनिक शिक्षा प्रणाली को उपयोगी बनाया जा सकता है। अपने कार्यकाल के आरम्भ में ही पूर्व प्रधानमंत्री

जी ने शांति निकेतन मे शिक्षा नीति पर जो विचार व्यक्त किये है, वे शिक्षा के मूलभूत बिन्दुओं की ओर संकेत करते है। एक तो प्रधानमंत्री जी ने प्रश्नोत्तर शिक्षण-विधि का उल्लेख किया ताकि विश्लेषणात्मक एवं अन्वेषी मस्तिष्क का विकास हो। दूसरी बात उन्होंने कही कि स्मृति पर बल देने के बजाय वैयक्तिक शिक्षण-विधि का विकास किया जाय। यह देश की प्राचीन गुरुकुलों, बौद्ध बिहारों, संघों एवं नालन्दा तथा तक्षशिला जैसे विश्वविद्यालयों की शिक्षा व्यवस्था की ओर संकेत करती है जहाँ पर तर्क, वाद-विवाद, शास्त्रार्थ प्रश्नोत्तर आदि विधियों से विश्लेषणात्मक, अन्वेषी एवं दार्शनिक मस्तिष्कों को तैयार किया जाता था। तीसरी बात जो उभर कर सामने आयी वह यह थी कि देश के शाश्वत, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक मूल्यों और आधुनिक प्रौद्योगिकी में समन्वय स्थापित करने वाली शिक्षा पद्धति का विकास किया जाना चाहिए। यह बात भी प्राचीन बौद्ध बिहारों एवं विश्व विद्यालयों की ओर संकेत करती है जहाँ की शिक्षा प्रणाली में भौतिक एवं आध्यात्मिक तत्वों का सुन्दर समन्वय किया गया था।

बौद्ध-शिक्षा में शिक्षा के उद्देश्यों के अनुरूप ही शिक्षा का पाठ्यक्रम निर्धारित किया गया था। जहाँ एक ओर पाठ्यक्रम में ऐसे विषय रखे गये थे जिनसे आध्यात्मिकता का विकास होता था वहीं दूसरी ओर व्यवसाय परक शिक्षा दी जाती थी ताकि विद्यार्थी अपने भविष्य के प्रति चिन्तित न रहें। इस प्रकार बौद्ध शिक्षा में उद्देश्यों तथा पाठ्यक्रम का सम्बन्ध था। आधुनिक शिक्षा प्रणाली को भी इस विशेषता से युक्त करना होगा। आज शिक्षा का पाठ्यक्रम उद्देश्यों से बहुत दूर हो चुका है। उद्देश्यों तथा पाठ्यक्रम में

सम्बन्ध स्थापित करना होगा। भारत जैसे विकासशील देश मे जहाँ सांस्कृतिक विरासत को बनाये रखने का अहम् प्रश्न है, वही, विज्ञान एवं तकनीकी के विकास, युवा शक्ति के सार्थक उपयोग, मानव मूल्यों की संरचना आदि के संदर्भ मे यह आवश्यक हो जाता है कि पाठ्यक्रम को कुछ इस प्रकार से व्यवस्थित किया जाय जिससे समाज के विकास की गति एवं दिशा ठीक रह सके। समाज में व्याप्त परंपरागत कुरीतियों, नैतिक मूल्यों के पतन आदि पर नियंत्रण के लिए प्रारम्भिक स्तर से ही शिक्षा के ऐसे पाठ्यक्रमों का नियंत्रण के लिए प्रारम्भिक स्तर से ही शिक्षा के ऐसे पाठ्यक्रमों का निर्माण किया जाय तथा पाठ्य पुस्तकों की रचना की जाय जिनके माध्यम से इन पर नियंत्रण कर पाना संभव हो सके। इस स्तर की शिक्षा में यह अपेक्षित है कि बच्चों को भाषा, गणित, विज्ञान, सामाजिक अध्ययन, समाजोपयोगी उत्पादक कार्य आदि विषयों का निर्धारित ज्ञान कराने के साथ ही उनमें अपेक्षित कौशलों, योग्यताओं, अभिवृत्तियों आदि का सम्यक् विकास हो। इस स्तर की शिक्षा के उपरान्त विद्यार्थी को पर्याप्त व्यवहार-कुशलता, कृषि का व्यावहारिक ज्ञान एवं किसी न किसी गृह उद्योग में दक्षता प्राप्त होनी चाहिए। वे राष्ट्रीय एकता, देश-प्रेम, सामाजिक हित, साम्प्रदायिक सौहार्द, सामाजिक समानता, लोकतांत्रिक जीवन शैली तथा पारस्परिक निर्भरता के आदर्शों के प्रति आस्थावान हों। इस पर ही संस्कार निर्मित होते हैं, अतः तदनुसार विद्यालय के कार्य कलाप नियोजित किये जायं एवं व्यावहारिक नैतिक शिक्षा प्रदान की जाय। उनमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा तर्क पूर्ण चिन्तन क्षमता का विकास हो जिसमें वे अपनी सांस्कृतिक विरासत के मूल्यवान पक्षों की सराहना कर उन्हें अपना सकें तथा रूढ़िगत

संस्कारों और कुप्रथाओं के प्रभावों से मुक्त रह सकें। इस स्तर पर कार्यपरक शिक्षा को पाठ्यक्रम का अभिन्न-अंग बनाया जाय।

उपर्युक्त के माध्यम से ही विद्यार्थी में स्वस्थ शरीर, स्वच्छ मन एवं सभ्य समाज की संकल्पना संभव हो सकेगी। प्रयास हो कि उसमें आत्मनिर्भरता की क्षमता का विकास हो जिससे उसका आत्म-विश्वास जागे और वह आत्म-निर्भर हो सके। वह यह माने कि मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता स्वयं है।

प्रारम्भिक शिक्षा की समाप्ति के उपरान्त विद्यार्थी अपेक्षाकृत एक बड़े विद्यालयी परिवेश के सम्पर्क में आता है। विद्यार्थी की यह अवस्था ऐसी होती है जिसमें प्राप्त अनुभव उसके भावी जीवन की दिशा-निर्धारण में अधिक प्रभावी होते हैं। अतः माध्यमिक स्तर पर विद्यार्थी में शारीरिक, बौद्धिक, नैतिक और सौन्दर्य परक शक्तियों को विकसित करना चाहिए। उसमें वैज्ञानिक प्रवृत्ति तथा लोकतांत्रिक, चारित्रिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के विकास के साथ-साथ ऐसी भावना का उदय करना चाहिए जिससे वह अपने राष्ट्र पर गर्व कर सके तथा अन्तर्राष्ट्रीय सद्‌भावना की वृद्धि में सहायक हो। माध्यमिक शिक्षा जहाँ एक ओर रोजगार परक शिक्षा का टर्मिनल भी है। अतः इसमें रोजगार परक पाठ्यक्रम का समावेश किया जाना आवश्यक है। इस स्तर पर राष्ट्रीय एकता की भावना के विकास हेतु पाठ्यक्रम का नियोजन तथा पाठ्यपुस्तकों का निर्माण इस प्रकार किया जाय जिसमें विद्यार्थी को देश की सांस्कृतिक विरासत, अन्य प्रदेशों की भाषा का ज्ञान, क्लासिकी भाषाओं का ज्ञान, सामाजिक स्थिति,

आर्थिक विकास की सम्यक् जानकारी हो तथा सर्वधर्म सम्भाव, सहिष्णुता एवं दूसरों के गुणों को पहचानने की शक्ति का विकास हो, महिला और पुरुषएक दूसरे के प्रति प्रचलित दृष्टिकोण में परिवर्तन हो जिससे समता की भावना का विकास हो तथा सामाजिक कुरीतियों को त्याज्य समझने की संकल्पना का विकास हो। बौद्ध शिक्षा के पाठ्यक्रम में ये समस्त विशेषतायें विद्यमान थीं। पाठ्यक्रम व्यवसाय परक तो था साथ ही छात्रों को सभी धर्मों तथा दर्शनों की शिक्षा दी जाती थी। छात्र-छात्राओं के पाठ्यक्रम में कोई अन्तर न था। बौद्ध शिक्षा का पाठ्यक्रम ''श्रेष्ठता'' पर आधारित था। अतः वर्तमान शिक्षा के पाठ्यक्रम निर्धारण में बौद्ध पाठ्यक्रम मार्गदर्शन कर सकता है। पाठ्यक्रम को बौद्ध शिक्षा के पाठ्यक्रम की भांति रोजगार परक बनाया जाना चाहिए ताकि विद्यार्थी भविष्य में अपने पैरों पर खड़ा होकर आत्म निर्भर बन सकें।

नयी पीढ़ी में सद्गुणों का विकास करने, नैतिक मूल्यों की स्थापना तथा अपनी प्राचीन समन्वयकारी संस्कृति के ज्ञान की प्राप्ति हेतु बच्चों में अच्छे संस्कार बनने आवश्यक है। इस हेतु महिलाओं में मातृत्व के गुणों का विकास तथा उन्हें गृह कार्य में दक्ष किया जाना अपेक्षित है जिससे वे बच्चों में जन्म से ही अच्छे संस्कार डाल सकें। अतः महिलाओं के लिए इस प्रकार के पाठ्यक्रम का निर्माण किया जाना चाहिए जिससे वे इन गुणों से सम्पन्न हो सकें।

इस प्रकार आधुनिक शिक्षा प्रणाली में मूलतः पाठ्यक्रम ऐसा हो कि प्रश्नोत्तर शिक्षा-विधि का हर स्तर पर विकास हो सके। शैशवावस्था से प्रौढ़ावस्था तक विद्यार्थी की क्षमता के परिप्रेक्ष्य में पाठ्यक्रम का निर्धारण किया

जाना चाहिए। विकास क्रम के विभिन्न सोपानों पर विद्यार्थी की परिपक्वता के संदर्भ में क्रियात्मक, ज्ञानात्मक एवं भावात्मक पक्षों से सम्बन्धित पाठ्य सामग्री का समावेश पाठ्यक्रम में किया जाना अपेक्षित है। विद्यार्थी के चारित्रिक एवं नैतिक विकास के लिए पाठ्यक्रम में सर्वधर्म समभाव के तत्वों का समावेश विभिन्न पाठ्य विषयों में किया जाना चाहिए। प्रारम्भिक स्तर से लेकर उच्च स्तर की शिक्षा तक पाठ्यक्रम का निर्धारण विद्यार्थी की आत्म-निर्भरता को केन्द्र बिन्दु मानते हुए किया जाय। इसके लिए यह आवश्यक है कि पाठ्यक्रम रोजगारोन्मुख हो। ज्ञान के विकास की तीव्र गति को देखते हुए यह आवश्यक हो कि सतत एवं पुनर्बोधात्मक शिक्षा की व्यवस्था की जाय।

प्रौढ़ एवं सतत् शिक्षा की दृष्टि से भी बौद्ध-शिक्षा-दर्शन की प्रासंगिकता, प्रयोजनीयता एवं उपयोगिता असंदिग्ध है। प्रौढ़ शिक्षा एवं सतत शिक्षा आज की आवश्यकता बन गयी है। इसकी महत्ता को बौद्ध विद्वानों ने सहस्रों वर्ष पूर्व ही जान लिया था। जन्म से सभी मनुष्य समान हैं और उन्हें मानव जीवन से सम्बद्ध सभी वस्तुओं पर समान अधिकार है विशेषकर उन वस्तुओं पर जो शिक्षा, ज्ञान और कौशल द्वारा प्राप्त होती हैं। मानव की समानता भारतीय जीवन दर्शन की विशेषता रही है। भारतीय जीवन दर्शन

सर्वे भन्वंतु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुख भाग्भवेत।।

के आदर्शों से अभिप्रेत हैं। निरन्तर परिवर्तनशील जगत में प्रत्येक मनुष्य की आकांक्षाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसकी क्षमताओं का पूर्ण विकास बिना किसी अवरोध के सतत चलने

वाली शैक्षिक प्रक्रिया के द्वारा ही संभव है। यह प्रबुद्ध एवं शिक्षित व्यक्तियों का नैतिक एवं मानवीय उत्तरदायित्व है कि वे गरीबी, बीमारी, विपदा, अज्ञान से पीड़ित और कम भाग्यशाली व्यक्तियों की शिक्षा एवं उन्नति का प्रबन्ध करें। सतत एवं प्रौढ़ शिक्षा के माध्यम से देश के सभी नागरिकों को सामाजिक न्याय दिलाया जा सकता है।

प्रौढ़ एवं सतत् शिक्षा के माध्यम से देश की आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, शैक्षणिक प्रगति की जा सकती है। भारत जैसे विकासशील देश में अधिकांश जनता निरक्षर एवं अल्प शिक्षित है। जो शिक्षित हैं वे भी ऐसे ज्ञान और कौशलों से वंचित हैं जो उनके जीविकोपार्जन के लिए आवश्यक है। यही कारण है कि देश में शिक्षित बेरोजगारी की फौज तैयार हो गयी है। निरक्षरता उत्पादन को घटाती है। औपचारिक शिक्षा बेकारों की फौज बढ़ाती है। परिणाम स्वरूप देश गरीबी और अज्ञानता के दुष्चक्र में फंसा हुआ है। इस दुष्चक्र से निकालने का एक मात्र साधन प्रौढ़ एवं सतत शिक्षा है। प्रौढ़ एवं सतत शिक्षा के द्वारा ही जनता को नागरिकता के ज्ञान, प्रजातंत्र के महत्व को बताकर वर्तमान राजनीतिक भ्रष्टाचार को समाप्त किया जा सकता है।

विकासशील देशों की सबसे बड़ी समस्या शिक्षा में अपव्यय और अवरोधन है। इसका कारण है अशिक्षा। शिक्षित परिवार के बच्चे पढ़ते हैं तथा अशिक्षित परिवार के बच्चें नहीं पढ़ते, यदि पढ़ते भी हैं तो कुछ ही वर्षो में विद्यालय छोड़ देते हैं। प्रौढ़ एवं सतत-शिक्षा द्वारा निरक्षर तथा अशिक्षित प्रौढ़ों में शिक्षा के प्रति रूचि बढ़ाकर उनके बच्चों को विद्यालय छोड़ने से रोका जासकता है। पुनश्च, ज्ञान एवं तकनीकी के त्वरित विकास के फलस्वरूप

वर्तमान ज्ञान व तकनीक पुराना और अप्रयुक्त हो जाता है। अतः वर्तमान शिक्षा के संम्प्रत्यय, उसकी तकनीकी और विधियों की वैधता पर एक प्रश्न चिन्ह लग जाता है। शैक्षिक तकनीक और शिक्षा विधियों में समुचित परिवर्तन तभी सम्भव होगा जब उसके लिए सुनिश्चित एवं सुसंगठित प्रौढ़ एवं सतत शिक्षा का उपयोग करें।

अतः देश के बहुमुखी विकास के लिए सतत शिक्षा एक आधारभूत आवश्यकता है। यदि देश सतत शिक्षा के लिए पर्याप्त सुविधा एवं साधन विकसित नहीं कर पायेगा तो उसे यह आशा नहीं करनी चाहिए कि नवीन ज्ञान व उच्च्च तकनीक के क्षेत्र में वह कुछ प्राप्त कर सकेगा। हजारों वर्ष पूर्व बौद्ध शिक्षा प्रणाली में अपनायी गयी सतत शिक्षा का अध्ययन करके हम वर्तमान सतत शिक्षा के सम्प्रत्यय को संरचित एवं सुगठित कर सकते हैं।

शिक्षा की महत्ता और गरिमा, उपयोगिता और आवश्यकता का वर्णन अनादिकाल से लेकर अब तक के सभी मनीषियों ने पूरा बल देते हुए किया है। यही कारण है कि ''विद्या से अमृत प्राप्त होने'' जैसे सूत्रों का प्रचलन हुआ। सरस्वती पूजन प्रकारान्तर से विद्या की ही अभ्यर्थना है। प्राचीन काल में गुरुकुलों, बिहारों, मठों, संघों में शिक्षा दी जाती थी। ये बिहार घरों से बहुत दूर वनो में स्थापित हुआ करते थे। वहाँ अमीर-गरीब का भेद नहीं था। इतना ही नहीं सभी कार्य छात्रों को ही करने होते थे। गुरुकुलों में बहुत सी कठिनाइयाँ भी होती थी। इन कठिनाइयों के होने पर भी अभिभावक अपने बालकों को बड़ी उत्सुकता से उनमें प्रवेश कराते थे। ऐसा क्यों करते थे अभिभावक? क्या वे नितांत निष्ठुर थे? वस्तुतः ऐसा नहीं था। प्रत्यक्ष कारण

यह था कि गुरुकुलों से निकलने वाले छात्र जहाँ कई विद्याओं के ज्ञाता होते थे, वहाँ उनकी प्रतिभा में शालीनता, पुरुषार्थ परायणता के चार चांद लगे होते थे। इन उपलब्धियों को देखकर न केवल अभिभावक कृतकृत्य होते थे, वरन् पड़ोसी भी छात्रों को हर दृष्टि से सुसंस्कृत, समुन्नत देखकर भाव विभोर हो उठते थे। इन्हें देखकर अन्य भी अपने बालकों को बिहारों में भेजने के लिए प्रेरित हो उठते थे। इन बौद्ध बिहारों तथा नालन्दा जैसे विश्वविद्यालयों में जिन्हें प्रवेश मिल जाता था वे अपना भाग्योदय हुआ मानते थे।

बौद्ध शिक्षा प्रणाली व्यावहारिक एवं मानसिक थी। अधिक समय तो व्यवहार कुशलता उभारने और उसके साथ ही आदर्शवादिता शालीनता आदि का अभ्यास कराने का उपक्रम चलता था। आचार्य गण इसी पक्ष को पूरा करने में अपनी अधिकांश शक्ति नियोजित करते थे। उन दिनों परीक्षा और सफलता का मूल्यांकन इसी आधार पर होता था कि किसने मानवी गरिमा के अनुरूप प्रतिभा उभारने में किस सीमा तक प्रगति की। छात्र, अभिभावक, आचार्य सभी शिक्षणकी सार्थकता को इसी कसौटी पर कसते थे। यही सब कारण थे कि नालंदा जैसे विश्वविद्यालयों से निकलने वाले छात्र नवरत्न कहे जाते थे। वे अपनी चरित्रनिष्ठा, प्रतिभा और लोक सेवी प्रवृत्ति में इतने खरे पाये जाते थे कि सर्वसाधारण द्वारा उन्हें सतत सम्मान और सहयोग प्राप्त होता रहे। यह सब तत्कालीन शिक्षा पद्धति का चमत्कार था।

सर्वजनीन बहुमुखी पुनरूत्थान के लिए तथा आधुनिक शिक्षा प्रणाली को और अधिक प्रभावी एवं कारगर बनाने के लिए हमें उसी विद्या, उसी शिक्षा व्यवस्था से प्रेरणा लेनी होगी। समय के साथ-साथ परिस्थितियाँ भी

बदल गयी है, इसलिए ठीक वैसी ही पद्धति तो नहीं अपनायी जा सकती, पूरी तरह से उसी की प्रतिमूर्ति खड़ी करना संभव नहीं है, परन्तु इतना तो हो ही सकता है कि उस पद्धति का स्वरूप एवं अनुशासन गम्भीरता पूर्वक समझा जाय और उतने भरण को वर्तमान शिक्षा क्रम में समाविष्ट कर लिया जाय। वह पद्धति ज्यों की त्यों लागू नहीं हो सकती, पर उस पद्धति के वे सिद्धान्त तो शाश्वत हैं। शिक्षा के साथ प्रतिभा निखार और सुसंस्कारिता सम्बर्द्धन का क्रम तो जोड़ा जा सकता है। इसे तो शिक्षक के वर्ग द्वारा अपने ही शक्ति के बल पर प्रारम्भ और सफल बनाया जा सकता है। ''स्वावलम्बन'' का पक्ष भी शिक्षा के साथ सुसम्बद्ध होना चाहिए। पर इसके लिए शिक्षातंत्र की मनः स्थिति और परिस्थिति ही कुछ कर सकेगी। जन स्तर पर भी वैसा प्रबन्ध बन पड़ना संभव है।

आज के अध्यापक को अपनी गरिमा और जिम्मेदारी अधिक गम्भीरता से समझनी होगी। शिक्षा के साथ सुसंस्कारिता जोड़ने के लिए प्राणपण से प्रयत्न करना होगा अन्यथा शिक्षा की उपेक्षा और शिक्षकों की अवज्ञा का जो माहौल चल पड़ा है, वह बढ़ता ही जायेगा। अरूचि पूर्वक किसी प्रकार पाठ्यक्रम पूरा करा देने पर तो शिक्षक अपनी महत्ता और उपयोगिता में से किसी एक को भी बनाये न रह सकेंगें। इसलिए विद्यार्थियों की उन्नति और अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए शिक्षक वर्ग को यह नया क्रम पूरा कराने के साथ ही साथ छात्रों का व्यक्तितत्व उभारने, प्रतिभा निखारने और उन्हें आदर्शों के प्रति निष्ठावान बनाने में पर्याप्त सफलता मिलसकती है। शिक्षा के साथ दीक्षा का समन्वय यही है।

धर्म निरपेक्षता के नाम पर हम आज धर्म विहीनता के समाज का सृजन कर बड़ी उपलब्धि का दम्भ मार रहे है। हम भूल रहे है कि धर्मतत्व ही एक ऐसा तत्व है जो मनुष्य को सही अर्थों में मनुष्य बनाता है। धर्म की व्याख्या हम संकीर्ण अर्थ में करते है। हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख तथा ईसाई जैसे लोगों के धर्म को अलग-अलग मानते हुए उनके वाह्यआडम्बर को ही धर्म समझ रहे हैं। सही अर्थ में प्रत्येक धर्म का सार तत्व एक ही है। मानव धर्म एक है। उसमें विभिन्नता का स्थान नही। सत्य, अहिंसा, सदाचार, परोपकार, दया, क्षमा, पवित्रता जैसे मानवीय गुण सर्वदेशिक एवं सार्वकालिक मानवीय गुण है, जिनका विकास प्रत्येक शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए। धर्म निरपेक्षता का अर्थ धर्म विहीनता नही होता है। धर्म की परिभाषा अत्यन्त व्यापक है-

"यतो अभ्युदयनिःश्रेयस् सिद्धिः स एव धर्मः"

ऐहिक और आमुस्मिक दोनों पक्षों के अभ्युदय के साधन को ही धर्म कहा गया है। इस दृष्टि से हम कह सकते है कि धर्म विहीन शिक्षा कभी भी सर्व कल्याणकारी नही हो सकती। यदि बहुजनहिताय एवं बहुजन सुखाय की भावना शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति में नही उत्पन्न हुई तो शिक्षित एवं अशिक्षित व्यक्ति में कोई भेद नही रह जायेगा और ऐसी शिक्षा अपने लक्ष्य को सिद्धि में असफल रह जायेगी। वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में अच्छे वैज्ञानिक, डाक्टर, इंजीनियर, प्राध्यापक आदि निश्चित रूप से उत्पन्न हो रहे है किन्तु अच्छे मानव को जन्म देने मे यह शिक्षा सर्वथा असमर्थ है। वैज्ञानिक प्रगति से यदि हमें दैत्य-शक्ति प्राप्त हो जाय तो बहुत बड़ी बात है किन्तु

उस शक्ति का उपयोग एक दैत्य के रूप में ही करना कितना अन्यायपूर्ण होगा। हमारी शिक्षा हमारे अन्दर अदम्य मानसिक शक्ति का सृजन कर रही है किन्तु हमारे हृदय पक्ष को चेतना शून्य करती जा रही है। हार्दिक विकास के अभाव में मानसिक विकास केवल विभीषिका को ही उत्पन्न करता है, शांति को नहीं।

बौद्ध-शिक्षा का महत्वूपर्ण पक्ष था उसका धर्म, दर्शन, अध्यात्म से सुसम्बद्ध होना। आधुनिक शिक्षा प्रणाली धर्म, दर्शन तथा अध्यात्म से बहुत दूर हो चुकी है। मानव जाति का उद्धार आत्म-ज्ञान से ही संभव है। आत्म-ज्ञान, अध्यात्म-ज्ञान के बिना संभव नहीं है। अतः वर्तमान शिक्षा प्रणाली में दर्शन तथा धर्म को भी पाठ्यक्रम में स्थान देना होगा। धर्म एवं दर्शन से दूर होने के कारण ही आज मानव अपने नैतिक मूल्यों को खो चूका है। लेनिन, मार्क्स, स्तालिन, चन्द्रगुप्त तथा गाँधी जैसे नेता सत्ता परिवर्तन कर सकते हैं, पर मात्र सत्ता परिवर्तन से ही मानव जाति का उद्धार संभव नहीं है। मानव का हृदय मात्र आत्म ज्ञान द्वारा ही परिवर्तित हो सकता है।

मानव जीवन के पहलू है- एक भौतिक तथा दूसरा आध्यात्मिक। आज मनुष्य अपना अधिकांश समय भौतिक संसार में ही देता है, दूसरे पक्ष की ओर बहुत ही कम सोचता है। जबकि दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं। जिस प्रकार से रेलगाड़ी तभी सही दिशा में चलती है जब दोनों पटरियाँ समान्तर होती हैं। ठीक उसी प्रकार से मनुष्य जीवन रूपी गाड़ी तभी सही-सही चलेगी जब उसकी भौतिक एवं आध्यात्मिक रूपी दोनों पटरियाँ समान होंगी।

अध्यात्म-ज्ञान के प्रचार एवं प्रसार से ही आज समाज में राष्ट्रीय एकता, अखण्डता, मानव-प्रेम एवं सद्भावना की शिक्षा प्रदान की जा सकती है। आज का मानव अपने लक्ष्य से दिशाहीन हो चुका है। आध्यात्मिक शिक्षा ही आज के दिशाहीन मानव का मार्ग दर्शन कर सकती है।

अध्यात्म-ज्ञान के द्वारा ही मानव का सर्वांगीण विकास संभव है। समाज में व्याप्त कुरीतियों, दहेज प्रथा, जाति प्रथा, मद्यपान, भ्रष्टाचार, दुराचार, साम्प्रदायिक वैमनस्य, आपसी-विद्वेष, धार्मिक संकीर्णता आदि का समूल-नाश एक मात्र अध्यात्म-ज्ञान द्वारा ही संभव है। अध्यात्म ही मानव प्रेम, एकता तथा सद्भावना का पाठ पढ़ाता है। अध्यात्म शक्ति द्वारा ही भारत पहले ही जगत गुरु था और आज भी जगत गुरु बन सकता है। अतः आज देश में इस अध्यात्मज्ञान की नितान्त आवश्यकता है। आज हजारों विद्यार्थी स्कूल एवं कालेज में पढ़कर शिक्षा ग्रहण कर निकलते हैं, परन्तु उनमें चरित्र एवं नैतिकता का अभाव रहता है। विद्या नम्रता सिखलाती है, परन्तु आज की शिक्षा प्रणाली इतनी दूषित है कि विद्या से नम्रता का अभाव होता जा रहा है। बड़ों का सम्मान तथा पूजा करना अध्यात्मज्ञान ही सिखलाता है।

धर्मानुकूल आचरण से ही समाज में शांति और व्यवस्था संभव है। आज सर्वत्र अशांति और अराजकता है। शांति, सद्भाव और अनुशासन के लिए आवश्यक है कि बालकों में प्रारम्भ से ही सदाचरण, स्वधर्मानुसार आचरण, अपनी संस्कृति एवं उसके मूल्यों के प्रति गहरी आस्था पैदा की जाय। इसके लिए प्रारम्भिक स्तर पर ही बालकों को वेदों तथा दर्शन का अध्ययन

अनिवार्य रूप से कराया जाना चाहिए। आज समाज नीति, अर्थनीति, शिक्षानीति, राजनीति सभी दूषित हो चुकी है। आज की राजनीति में भ्रष्टाचार एवं बेईमानी का बोलबाला है। इस भ्रष्ट एवं गंदी राजनीति से हमारा ह्रास हो रहा है। धर्म ही है जो हमें इन उपद्रवों से मुक्ति दिला सकता है, शांति प्रदान कर सकता है। अतः हमें धर्म एवं धर्मनीति को महत्व देना होगा। धर्म नीति से ही देश और समाज का हित संभव है। धर्म नीति से ही देश और समाज का हित संभव है। धर्म और अध्यात्म से ही एकता, सद्भाव और शान्ति संभव होगी और समाज का जागरण होगा।

आज शिक्षा दर्शन से दूर हो चुकी है। बौद्ध-शिक्षा दर्शन के द्वारा निर्धारित थी। दर्शन की सहायता से ही लक्ष्य निर्धारित होते हैं और इन लक्ष्यों को प्राप्ति तदनुसार पाठ्यक्रम द्वारा किया जाता है। बौद्ध शिक्षा की भांति आधुनिक शिक्षा प्रणाली को भी दर्शन से सम्बन्ध स्थापित करना होगा। इस संदर्भ में दर्शन की तीनों शाखाओं-तत्वज्ञान, ज्ञानशास्त्र, नीतिशास्त्र की महत्ता स्वीकार करनी होगी। शैक्षिक उद्देश्यों का निर्धारण नीतिशास्त्र, शिक्षण विधि का निर्धारण ज्ञानशास्त्र एवं नीतिशास्त्र, तथा पाठ्यक्रम एवं पाठ्यपुस्तकों के निर्माण में तत्वज्ञान, ज्ञान शास्त्र, एवं नीतिशास्त्र तीनों से सहायता ली जानी चाहिए।[95] वस्तुतः परिवर्तन एवं स्वतंत्रता के नाम पर आज हम अपनी प्राचीन स्वस्थ परम्पराओं की ओर से विमुख होकर रूग्ण एवं विनाशकारी परम्पराओं का सृजन कर रहे हैं। आज हम प्रत्येक पुराने सिद्धान्त एवं परम्परा को त्रुटिपूर्ण तथा प्रत्येक नये विचार एवं कार्य को त्रुटिरहित मान रहे हैं। यह

हमारी भ्रांतधारण का ही प्रतीक है। हर पुरानी विचारधारा बुरी तथा हर नयी विचार धारा अच्छी नहीं हो सकती है। नवीनता एवं प्रचीनता के गुण-दोष का सम्यक् विवेचन करके अच्छे पक्ष को ही ग्रहण करना चाहिए। आज राजनेताओं, राजनीतिज्ञों, अध्यापकों, छात्रों, प्रबन्धकों शैक्षिक प्रशासकों के चरित्र एवं आचरण में जब तक मानवीय मूल्यों का समावेश नहीं होगा और उनका जीवन सामान्य नागरिकों के लिए स्वस्थ आदर्श नहीं प्रस्तुत करेगा तब तक अच्छी से अच्छी शिक्षा प्रणाली भी अच्छे नागरिक पैदा नहीं कर सकेगी। आज शिक्षा में आमूल चूल परिवर्तन की बात बड़े वेग से प्रसारित की जा रही है। निम्न स्तर से लेकर उच्च स्तर तक सभी व्यक्ति वर्तमान शिक्षा प्रणाली को दोषपूर्ण कहते हुए इसमें सर्वसाभावेन परिवर्तन की विचारधारा व्यक्त कर रहे हैं। बड़े-बड़े राजनेता भी इसी बात की रट लगाये हुए हैं कि शिक्षा में आमूलचूल परिवर्तन अपेक्षित है। किन्तु कोई भी व्यक्ति इस परिवर्तन की कोई आधारभूत रूपरेखा प्रस्तुत नहीं कर रहा है। केवल मौखिक अभिव्यक्ति से कोई परिवर्तन नहीं लाया जा सकता है। वास्तविकता तो यह है कि शिक्षा में आमूलचूल परिवर्तन की परिकल्पना केवल एक शब्द जाल और कल्पना की उड़ान है जिसको धरातल पर अवतरित करना संभव नहीं है। आमूलचूल परिवर्तन का अर्थ है आद्योपान्त नवीनीकरण। ऐसा नवीनीकरण न तो संभव है और न समीचीन ही। इतना अवश्य हो सकता है कि शिक्षा व्यवस्था की कार्यपद्धति में परिवर्तन किया जाय। जिस उद्देश्य के लिए आज शिक्षा में गुणात्मक परिवर्तन का उद्घोष किया जा रहा है उसकी प्राप्ति तभी संभव है जब हम अपनी पुरातन

शिक्षा प्रणालियों पर ध्यान देगें। हमारा अतीत हमारे लिए आज भी वरदान सिद्ध हो सकता है। सदाचारी, शिष्ट, चरित्रवान, सत्यवादी, अनुशासित, विनयशील, परार्थी, नैतिक तथा स्वस्थ व्यक्तित्व वाले व्यक्तियों को उत्पन्न करने वाली बौद्ध शिक्षा आज की दूषित शिक्षा प्रणाली के पुनर्निर्माण में उपयोगी हो सकती है।

****